कुमारप्पा
जवाहिरलाल जैन

जे० सी० कुमारप्पा
जीवन, व्यक्तित्व और विचार

•

जवाहिरलाल जैन

•

सर्व सेवा संघ प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी

प्रकाशक : मन्त्री सर्व सेवा संघ प्रकाशन,
राजघाट, वाराणसी

मुद्रक : भार्गव भूषण प्रेस,
त्रिलोचन, वाराणसी
३०/४-७२

संस्करण : पहला

प्रतियाँ : १०००; सितम्बर, १९७२

मूल्य : चार रुपया

Title : J. C. KUMARAPPA : JEEVAN,
VYAKTITVA AUR VICHAR

Author : Jawahirlal Jain

Subject : BIOGRAPHY

SARVA SEVA SANGH PRAKASHAN

RAJGHAT, VARANASI

Rs. 4-00
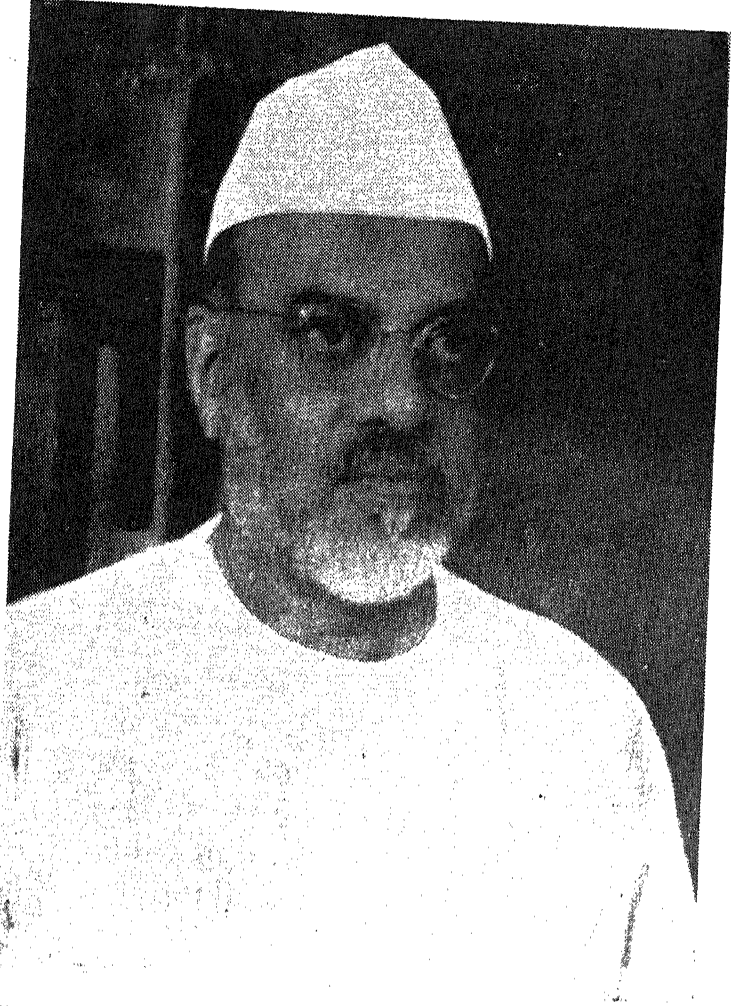
जन्म :

४ जनवरी, १८९२

निधन :

३० जनवरी, १९६०

आभार

कुमारप्पाजी ने गांधी-अर्थशास्त्र को अपने चिन्तन और प्रयोग से जो आकार दिया, उसके प्रति श्रद्धान्जलि के रूप में तथा उस दिशा में आगे बढ़ने के उद्देश्य से राजस्थान के कुछ मित्रों ने सन् १९६७ में 'कुमारप्पा ग्रामस्वराज्य संस्थान' का प्रारम्भ किया। इस संस्थान ने कुमारप्पाजी की जीवनी और उनकी समग्र रचनाओं का विषयों के अनुसार सुसम्पादित संग्रह प्रकाशित करना तय किया। इसकी चर्चा गांधी सेवा संघ के अध्यक्ष आदरणीय श्री अण्णासाहब सहस्रबुद्धे से हुई। उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक इस योजना के पहले भाग–कुमारप्पाजी की जीवनी तैयार करने के लिए संस्थान को आर्थिक सहायता देना स्वीकार किया। गांधी सेवा संघ के इसी सहयोग के परिणामस्वरूप यह पुस्तक तैयार हुई।

प्रसन्नता की बात है कि सर्व सेवा संघ प्रकाशन ने इस पुस्तक को प्रकाशित करना स्वीकार किया। कुमारप्पाजी के जीवन और व्यक्तित्व के विषय में सर्वश्री काकासाहब कालेलकर, देवेन्द्रकुमार गुप्त, झवेरभाई पटेल, डॉ० देसाई, वाई० बी० जोशी, कृष्णमूर्ति, एम० विनायक, शिवराम कृष्णन्, जी० रामचन्द्रन् और मुनियाण्डी तथा अन्य मित्रों से बहुत सहायता मिली है। कुमारप्पाजी का अधिकांश साहित्य अखिल भारत ग्रामोद्योग संघ द्वारा प्रकाशित हुआ है। यह संघ बाद में सर्व सेवा संघ में विलीन हो गया। उनके धर्म-संबंधी विचार 'क्रिश्चियानिटी–इटस् इकॉनॉमी एण्ड वे ऑफ लाइफ' नामक पुस्तक में से दिये गये हैं, जिसे नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद ने प्रकाशित किया है। इन सबके प्रति संस्थान हार्दिक आभार प्रकट करता है।

—लेखक

दो शब्द

प्रोफेसर जे० सी० कुमारप्पा हमारे देश के एक प्रमुख अर्थशास्त्री तथा गांधीवादी रचनात्मक कार्यकर्ता थे। इंग्लैण्ड और अमेरिका में उच्च एकाउण्टेन्सी की शिक्षा प्राप्त कर जब वे भारत लौटे, तो उन्होंने भारतीय अर्थशास्त्र पर अपना एक बृहद् निबन्ध महात्मा गांधी के पास अवलोकनार्थ भेजा। गांधीजी ने उनको मिलने के लिए साबरमती-आश्रम में बुलाया। इसी पहली मुलाकात में श्री कुमारप्पा बापूजी के व्यक्तित्व और विचारों से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने गुजरात विद्यापीठ में अध्ययन के लिए अहमदाबाद आना स्वीकार कर लिया।

उसके बाद तो वे अखिल भारत ग्रामोद्योग संघ के मंत्री के नाते बहुत वर्षों तक मगनवाड़ी, वर्धा में रहे। बाद में उन्होंने वर्धा-नागपुर रोड पर शेल्डोह गाँव में पन्नयी आश्रम की स्थापना की और ग्रामों में स्वावलम्वी अर्थशास्त्र का कठिन, किन्तु सफल प्रयोग किया।

जब कुमारप्पाजी मगनवाड़ी में कार्य करते थे, तव कई वर्षों तक मुझे भी उनके सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उनका सरल जीवन, किन्तु अर्थशास्त्र-सम्बन्धी गहरे विचार बड़े तर्कसंगत व प्रभावोत्पादक थे। वे बापू की विचारधारा से बिलकुल एकरस हो गये थे और उनके जीवन का यही ध्येय बन गया था कि भारत की ग्रामीण जनता का वर्तमान आर्थिक शोषण वन्द हो और वह स्वावलम्बन के आधार पर अपने समग्र जीवन का पुनर्निर्माण शीघ्रता से करे। उन्होंने कई पुस्तकें भी लिखीं, जो गांधीवादी अर्थशास्त्र की अमर कृतियाँ हैं।

मुझे खुशी है कि श्री जवाहिरलाल जैन ने कुमारप्पाजी के जीवन, व्यक्तित्व और विचारों पर यह ग्रन्थ बड़े रोचक ढंग से लिखा है। मैं आशा करता हूँ कि इस पुस्तक का समुचित स्वागत होगा और देश के रचनात्मक कार्यकर्ताओं में उसका व्यापक प्रचार किया जा सकेगा।

राजभवन, अहमदाबाद-४ **—श्रीमन्नारायण**

८-७-'७२

प्रस्तावना

भारत की स्वतन्त्रता के २५ वर्ष पूरे हो गये हैं तथा १५ अगस्त से स्वातन्त्र्य-महोत्सव सारे देश में आयोजित हुआ है। यह उचित समय है, जब कि गत २५ सालों में हम लोगों ने देश के निर्माण की दृष्टि से क्या किया और महात्मा गांधी ने देश को जो राह दिखलायी थी उसका अमल कहाँ तक हुआ, इसका चिन्तन किया जाय।

स्वराज्य किसको मिला, इस सम्बन्ध में ही यदि सवाल पूछा जाय, तो जैसा कि डॉ० कुमारप्पा ने कहा है, विदेशी लोग यहाँ से चले गये उसके बदले भारतीय लोगों के हाथ में देश की बागडोर आ गयी; लेकिन शोषण का जरिया वैसा ही कायम रहा है। फर्क इतना ही हुआ कि ब्रिटिश राज्य-व्यवस्था में इस देश का जो धन शोषण के द्वारा विदेश जाता था; आज यह काम अपने ही देश के शहरवाले, उद्योगपति, राज्य चलानेवाले और हर किस्म के बुद्धिजीवी लोग कर रहे हैं।

ग्रामीण जीवन में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, ऐसी बात नहीं है। गाँव-गाँव में स्कूल खुले, सड़कें बनीं, कई जगह बिजली आयी, दवाखाने खुले और खेती के लिए सिंचाई का प्रबन्ध भी हुआ। लेकिन गाँव का कच्चा माल सस्ते-से-सस्ते दाम पर

शहरवालों को तथा उद्योगों को मिलता रहे, यह पहले का रवैया वैसा ही चालू रहा। मुझे लग रहा है कि पिछले २५ सालों में गांधीजी के विचारों से जितने दूर हम जा सकते थे, उतनी दूर हम जा चुके हैं। विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था के बदले देश में केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था कायम की गयी। श्रमाधारित पंचवर्षीय योजना बनाने के बजाय पूँजी पर निर्भर रहकर भी विकास का मार्ग अपनाया गया। जैसी गुलामी की शिक्षण-पद्धति पहले चलती थी, उसीको बढ़ाने का काम आज भी हो रहा है। गांधीजी तथा डॉ० कुमारप्पा ने खादी-ग्रामोद्योग के जरिये स्वदेशी का जो पैगाम देश को दिया था, उसको जीवित रखने का काम कुछ हद तक सरकारी अनुदान से होता रहा, लेकिन इनको देशकी योजनाओं का मध्यबिन्दु नहीं बनाया गया। ग्रामाधारित अर्थ-व्यवस्था के बदले ऊपर से सम्पत्ति बढ़ती रहे तथा वह धीरे-धीरे 'परकोलेट' होकर नीचे के स्तर पर जाती रहेगी, इसी दृष्टि से सारा आर्थिक विकास हुआ और यह उसी नीति का फल है कि आज देश के सामने बेकारी का एक महान् संकट खड़ा हो गया है। डॉ० कुमारप्पा ने संतुलित कृषि का जो सिद्धान्त देश के सामने रखा था, उसको भी पहले २० सालों में विदेश से करोड़ों रुपयों का अनाज लाकर हम ठुकराते रहे। इसलिए स्वतन्त्रता की रजत-जयन्ती के अवसर पर यह पुस्तक नयी तथा पुरानी पीढ़ी को गत २५ साल के राष्ट्र-जीवन का समालोचन करने तथा भविष्य की दृष्टि से विचार करने में मदद रूप होगी, ऐसी मुझे आशा है।

डॉ० कुमारप्पा का बचपन और शिक्षण-काल उतना महत्त्व का नहीं है, जितना उनका आगे का कार्य महत्त्वपूर्ण है। १८९२ में उनका जन्म हुआ। एक ईसाई परिवार के परोपकार के संस्कार बचपन से ही उनकी माताजी से मिले। एक-एक मिनट का ख्याल रखना तथा अपने कार्यक्रम का निष्ठुरता से पालन करने की शिक्षा पिताजी से मिली। बचपन में ही जब वे हाईस्कूल में पढ़ते थे, तो एक शाम पिताजी ने बाजार से कुछ सामान लाने को कहा तो उनको भी इनकार कर दिया, क्योंकि उस समय किसी मित्र के साथ टेनिस खेलने का कार्यक्रम तय हो चुका था। जब से उनका सार्वजनिक जीवन शुरू हुआ, तब से ऐसे अनेक प्रसंग आये, जब उन्होंने अपनी दृढ़ता दिखलायी। एक बार बिना पूर्व सूचना दिये मिलने आने पर गांधीजी से भी उन्होंने कह दिया, "आपसे आज मैं नहीं मिल सकूँगा, क्योंकि मैं काम में व्यस्त हूँ।" डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद को बिहार भूकम्प सहायता निधि के एक ट्रस्टी को निकाल देने के लिए कह दिया। किशोरलालभाई तथा महादेवभाई ने एक बार जेल में दो कैदियों के ऊपर जो अन्याय हुआ था उस सम्बन्ध में समझौते का एक प्रस्ताव किया था, उसको भी उन्होंने नहीं माना और निर्भीकतापूर्वक अपने विचार पर दृढ़ रहे। मेरे जैसे छोटे कार्यकर्ता को कभी-कभी लगता था कि कुमारप्पाजी का अहंकार ही उनको इस तरह से बर्ताव करने को बाध्य करता रहा होगा।

जब वे दूसरी बार अध्ययन के लिए अमेरिका गये, तब उन्होंने 'पब्लिक फिनान्स एण्ड इंडिआज पाव्हर्टी' नाम से एक

अध्ययनपूर्ण पुस्तक लिखी। ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत का कितना शोषण होता रहा है, इसका लेखा-जोखा उसमें दिया। गांधीजी ने वह पुस्तक गहराई से पढ़ी और डॉ० कुमारप्पा को मिलने के लिए अहमदाबाद बुलाया। बम्बई में चार्टर्ड अकौण्टेण्ट के नाते काम करके 'चार अंकों में' मासिक आय करने की दिशा में वे पहले सोचते थे। विलायती पोशाक में पूर्ण रूप से रँगा हुआ उनका जीवन गांधीजी से मिलने पर पूरा बदल गया। बम्बई का अपना धंधा छोड़कर गुजरात विद्यापीठ के प्राध्यापक के नाते काम करने चले आये। बाद में उनकी पुस्तक का प्रकाशन यंग इंडिया में गांधीजी ने क्रमशः किया। कुमारप्पा पूरी तरह सादगी का जीवन बिताने लगे। ग्रामीण सर्वेक्षण के काम में वे जैसे-जैसे गहराई में गये, वैसे-वैसे उनको हिन्दुस्तान की दरिद्रता का साक्षात् दर्शन होता गया। अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों के ऊपर उनका जितना लेखन हुआ है, उसमें हिन्दुस्तान की दरिद्रता को मद्दे नजर रखकर इस देश के विकास का अर्थशास्त्र क्या हो सकता है, इसी पर उनका चिन्तन प्रकट हुआ है।

कुमारप्पा बुराई को अभिव्यक्त करने में जितने इमानदार, स्पष्ट एवं प्रखर थे, बुराई को दूर करने, उसे सुधारने और नयी रचना करने में भी उनकी दृष्टि उतनी ही पैनी थी। कुमारप्पा स्वभाव से बहुत भावनाशील थे। जैसा सोचते थे, जैसा सही मानते थे, वैसा ही प्रकट करते थे; स्वयं जल्दी अमल करना चाहते थे और दूसरों से करवाना भी चाहते थे। लेकिन इन तीनों बातों का सामंजस्य, जैसा कि स्वाभाविक है, बहुत

ही कम बैठ पाता था, इसलिए उनके मन पर खीझ, निराशा दुःख एवं तनाव की स्थिति अक्सर बनी रहती थी ।

वे अपने निजी जीवन में सरल, सच्चे अपरिग्रही और व्यवस्थित थे । सार्वजनिक जीवन में भी जहाँ कहीं अन्याय, विषमता अथवा अनौचित्य देखते थे, अत्यन्त क्रुद्ध हो उठते थे। ढोंग, दिखावा और आत्म-प्रवंचना से वे बहुत चिढ़ते थे । ईश्वर ने उन्हें भाषा पर असामान्य अधिकार दिया था, अतः उनकी वाणी आग उगलने लगती थी। वे जितने निर्भीक तथा भावनापूर्ण थे, उतने ही कष्ट-सहिष्णु भी थे ।

कुमारप्पा ईसाई-धर्म के वर्तमान स्वरूप के विरोधी थे । उनका मानना था कि आज का ईसाई-धर्म एक नपा-तुला, सुविधापूर्ण, स्वार्थी और वैयक्तिक बन गया है। कुमारप्पा ने विवाह नहीं किया । कोई व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं अर्जित की । करोड़ों गरीबों की गरीबी कैसे दूर हो, सिर्फ शिक्षण के द्वारा नहीं; वरन् सम्मानपूर्ण और स्वतन्त्र रोजगार के द्वारा वे विकास कर सकें, उसकी सैद्धान्तिक शोध और तत्सम्बन्धी प्रयोगात्मक और व्यावहारिक तथा व्यापक प्रयत्न वे आजीवन करते रहे। उन्होंने साधुओं की तरह कपड़े रँगे नहीं, पादरियों की तरह विशिष्ट पोशाक पहनी नहीं, पर अपने जीवन और व्यवहार से वे ईसामसीह के सच्चे अनुयायी और ईसाई-धर्म के सच्चे ज्ञाता थे । गांधीजी ने कुमारप्पा को 'धर्मशास्त्र के ज्ञाता' (डॉक्टर ऑफ डिव्हिनिटी) की उपाधि प्रदान की थी।

उन्हें सत्य और असत्य के बीच में, यथार्थ और आदर्श के बीच में समझौते की स्थिति मान्य नहीं थी । मध्यममार्ग से

उन्हें चिढ़ थी। यही कारण था कि वे विशेष लोक-संग्रह नहीं कर सके और लोग उनसे डरते भी थे।

गांधीजी की स्मृति किस तरह चिरस्थायी रखी जाय, इसके सम्बन्ध में भी कुमारप्पा के विचार बड़े क्रान्तिकारी थे। उन्होंने कहा, "हमारे देश में जनतन्त्री सरकार है। स्मारक की स्थापना सरकार अपने आर्थिक साधनों से कर सकती है। स्मारक के लिए रुपया एकत्र करने में जो शक्ति लगायी जायगी, उसका अच्छा उपयोग रचनात्मक कामों में लगाने से होगा। गांधीजी के कार्यक्रमों को रुपयों की कमी कभी नहीं रही। सबसे बड़ी कमी कार्यकर्ताओं की रही है। गांधीजी की स्मृति में खड़ी की गयी सबसे बड़ी स्मृति व्यक्ति की है। हमें उचित व्यक्तियों की निधि तैयार करनी चाहिए। जब त्याग-वृत्तिवाले लोग निकलेंगे तो वे गांधीजी के प्रकाश को फैलाते हुए देश में घूमेंगे और वे ही अहिंसक विचार के श्रेष्ठ प्रतिनिधि होंगे। वही गांधीजी का सच्चा स्मारक होगा, जो व्यक्ति की विराट् तथा छिपी हुई युवा-शक्ति को अपने दायरे में ला सके और उसे शान्ति और समन्वय के मार्ग पर मोड़ सके।"

कुमारप्पाजी का जीवन विविधस्पर्शी रहा है। वे विचार, अर्थ और कर्म में पक्के और सच्चे हिसाबी थे। पक्के देशभक्त और सच्चे लोकतान्त्रिक थे। नयी तालीम के छात्र और शास्त्री थे। कुशल सम्पादक और लेखक के नाते वे दूर-दूर तक मशहूर थे। उनके जीवन में कथनी और करनी का तादात्म्य था।

संक्षेप में कहा जाय तो गांधीजी ने सत्य और अहिंसा पर आधारित विकेन्द्रित समाज और स्वावलम्बी जीवन-व्यवस्था की प्रेरणा दी और कुमारप्पा ने अपनी तीव्र बुद्धि, उदात्त हृदय और कर्मनिष्ठ शरीर द्वारा उस पैगाम को अपने जीवन में उतारने और अपने चारों ओर के समाज में उसे फैलाने का बहुत व्यापक एवं गहरा प्रयास किया। उनकी दृष्टि से गांधी-जीवन का वही सन्देश था।

जब-जब गांधीजी जेल में गये, तब-तब यंग इंडिया के सम्पादक के नाते वे सरकार की बहुत तीखी टीका करते रहे और सत्य परिस्थिति जनता के सामने रखते रहे। इसके लिए उनको कई बार जेल भी जाना पड़ा। इससे उनका शरीर जर्जर हो गया। उन्हें हृदय-विकार हुआ तथा उच्च रक्तचाप से भी वे पीड़ित रहे। इस कारण सिर्फ ६८ वर्ष की उम्र में ही सन् १९६० में वे चल बसे।

डॉ० कुमारप्पा का देश के अर्थशास्त्रियों में विशेष स्थान था। अमेरिकी अर्थशास्त्री डॉ० डेवेन पोर्ट का विचार था कि व्यक्ति मुनाफे के अलावा और किसी विचार को स्थान नहीं दे सकता। उनका खयाल था कि उत्पादन का लक्ष केवल कार्य-शक्ति को बढ़ाना ही है। उसमें नैतिक या सामाजिक विचारों का कोई स्थान नहीं हो सकता। डॉ० कुमारप्पा को यह दृष्टि-कोण विलकुल गलत लगा और उन्होंने उसका विरोध किया। यहीं से उनका सुझाव इस ओर हुआ कि आधुनिक पश्चिम अर्थशास्त्रीय धारणाओं के विपरीत मनुष्य केवल सम्पत्ति उपार्जित करने का साधन नहीं है; अपितु वह समाज का एक

ऐसा सदस्य है, जिसकी अपनी राजनैतिक, सामाजिक, नैतिक एवं आध्यमिक जिम्मेदारियाँ है। अर्थशास्त्र में नैतिक और सामाजिक तन्त्रों का उपयोग वे महत्त्वपूर्ण मानने लगे तथा शोषणहीन समाज तथा अर्थ-व्यवस्था के वे सन्देश-वाहक बन गये।

हमारे देश में सब जगह उत्पादन और दरिद्रता दोनों साथ-साथ चलते हैं। कुमारप्पा का विचार था कि हमें खेती का ऐसा कार्यक्रम बनाना होगा, जो जीवन की प्रारम्भिक आवश्यकताओं जैसे—भोजन, वस्त्र, आवास और रोशनी तथा आधुनिक आवश्यकताओं जैसे—शिक्षण, सफाई और स्वास्थ्य की पूर्ति कर सके। हमारा उत्पादन अपने स्वाभाविक अनुपात में इन आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाला होना चाहिए। हमारी फसल की योजना में इन मानवीय मूल्यों का ध्यान रखते हुए साधनों का विवेकपूर्ण उपयोग करना चाहिए। यह एक तरह से सारे देश में ग्राम-पुनर्निर्माण कार्य को स्वावलम्बी आधार देने का, खासकर खेती के क्षेत्र में, एक मौलिक सुझाव था। वर्धा के पास शेल्डोह गाँव में पन्नयी आश्रम के नाम से एक प्रयोग भी वे करना चाहते थे, किन्तु स्वास्थ्य आदि अनेक कारणों से वह प्रयोग आगे नहीं बढ़ पाया।

जब तक देश उपभोक्ता-सामान की पूर्ति के लिए केन्द्रीय उद्योगों पर निर्भर रहेगा, हिंसा और लोहे के पर्दे को कायम रखना होगा। केवल विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था में ही हम अहिंसा पर आधारित विश्वव्यापी भाई-चारे का विकास कर सकते हैं।

वे कहते थे कि केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण दोनों ही व्यर्थ हैं, यदि मनुष्य-मनुष्य को जोड़नेवाला प्रेम का विचार नहीं है ।

जमीन के मसले को हल करने के बारे में भी उनकी स्पष्ट राय थी कि बड़े मालिक से जमीन लेना और छोटे किसानों को छोटे टुकड़ों में देना बहुत अच्छा नहीं है । छोटी या बड़ी, कोई भी निजी मालकियत नहीं रहनी चाहिए । यह मालकियत-विसर्जन का लक्ष यदि अहिंसा से प्राप्त करना हो तो कृषि महा-विद्यालयों के मार्फत कार्यकर्ता-प्रशिक्षण का काम ही प्रथम काम है । समय और आकार के लक्ष्यांक पर ध्यान देकर यदि काम किया जायगा तो हम हिंसा की तरफ बढ़ेंगे । साधन यदि शुद्ध रहे तो साध्य अनायास प्राप्त होगा और साधन-शुद्धि ही अहिंसक प्रक्रिया होगी ।

केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था के बदले विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था के सिद्धान्त को लेकर उन्होंने 'स्थायी समाज-व्यवस्था' नामक किताब देश के सामने अपने विचारों के आदर्श स्वरूप रखी । सन्तुलित कृषि के बारे में भी उनके कुछ लेख प्रकाशित हुए हैं ।

कांग्रेस की कृषि-सुधार-समिति के वे अध्यक्ष बनाये गये थे । उसमें भी उन्होंने अपने विचार दोहराये । लेकिन उनके विचार समिति को मान्य न होने के कारण उन्होंने समिति से त्यागपत्र दे दिया । उसी तरह योजना-आयोग से भी उन्हें त्यागपत्र देना पड़ा ।

खादी और ग्रामोद्योग की दृष्टि से उनका चिन्तन गहरा था । १९२५ में कांग्रेस के आशीर्वाद से अखिल भारत चरखा

संघ की स्थापना हुई तथा खादी उत्पत्ति बिक्री के हजारों केन्द्र देश में खोले गये। १९३६ में जब अखिल भारत ग्रामोद्योग संघ की स्थापना हुई तो कुमारप्पाजी ने उसकी पंचमुखी योजना बनायी। शोध, उत्पादन, प्रशिक्षण, विस्तार और संगठन तथा प्रचार और प्रकाशन। उत्पादन और व्यापार का काम स्थानिक लोगों के बल पर चले और उसको मार्गदर्शन का काम ही केन्द्रीय संघ करे, यह नीति अपनायी गयी। १९४४ में जब गांधीजी जेल से छूटे तब चरखा संघ की मीटिंग में भी कुमारप्पाजी ने अपने विचार रखे तथा पुरानी पद्धति को बन्द करने का आदेश भी दिया। ग्रामाभिमुख खादी तथा ग्रामोद्योग ग्राम-संगठन की दृष्टि से शुरू हो, यह उनका विचार था। मेरी राय में यह विचार आज भी हमें सही दिशा में सोचने में मदद रुप हो सकता है।

मार्च १९४८ में सेवाग्राम में रचनात्मक कार्यकर्ताओं का विशाल सम्मेलन हुआ, जिसमें सर्वोदय-समाज की स्थापना की गयी और रचनात्मक संस्थाओं के एकीकरण के लिए योजना बनाने का कार्य डॉ० कुमारप्पा के जिम्मे किया गया। अखिल भारत सर्व सेवा संघ के नाम से एक संघीय आधार पर संगठन निर्माण करने का निश्चय किया गया। डॉ० कुमारप्पा को सर्व सेवा संघ की सदस्यता के लिए हरएक संस्था की सहमति प्राप्त करने की जिम्मेदारी सौंपी गयी। कुमारप्पाजी की पुनर्गठन की योजना में विभिन्न संस्थाओं को स्वायत्त रखकर सामान्य नीति-निर्धारण, समन्वय एवं निरीक्षण का काम मध्यवर्ती संघ का रहे, ऐसा सर्व सेवा संघ का विधान बनाया गया।

बाद के वर्षों में धीरे-धीरे विलीनीकरण की तरफ सर्व सेवा संघ किस तरह बढ़ता रहा और तत्पश्चात् १५-२० साल में पुनः सर्व सेवा संघ को अलग-अलग प्रवृत्तियों की स्वतन्त्र संस्था बनाकर फिर से विकेन्द्रित व्यवस्था बनाने की दिशा में कदम क्यों उठाना पड़ा — ये सारे सवाल आज गांधीवादी विचारकों के सामने खड़े हैं। अहिंसक संगठन किस मर्यादा में हो सकता है। संगठन कार्यकर्ता के विकास का माध्यम बने, उसमें शासक और नौकर ऐसा नाता न पैदा हो। इस दिशा में हम लोगों को विचार करने में यह इतिहास मदद रूप हो सकता है।

श्री जवाहिरलाल जैन ने इस पुस्तक की प्रस्तावना लिखने का काम मुझे सौंपा। गांधीवादी अर्थशास्त्र के अन्य दार्शनिक हममें आज मौजूद हैं। उस परिस्थिति में यह काम संकोच से ही मैंने स्वीकार किया है। लेकिन इसी निमित्त से चार-आठ दिन फिर से इन विचारों का चिन्तन करने का मौका मुझे मिला, इसलिए मैं उनका आभारी हूँ।

सेवाग्राम, वर्धा
१-८-'७२

अ० वा० सहस्रबुद्धे

प्राक्कथन

मँझोला कद, पक्का गेहुँआ रंग, खल्वाट चमकता हुआ मस्तक, सफेद कमीज और धोतीजामा, चेहरे पर किंचित् व्यंग्ययुक्त मुस्कराहट—ये थे श्री जे० सी० कुमारप्पा, जिनसे मेरा सम्पर्क भारत की स्वाधीनता-प्राप्ति के वर्षों में हुआ। हम लोग (श्री सिद्धराजजी ढड्ढा, श्री पूर्णचन्द्रजी जैन और मैं) उस समय पत्रकारिता से सम्बद्ध थे, जयपुर से लोक-वाणी (हिन्दी दैनिक और साप्ताहिक) तथा युगान्तर प्रकाशन चलाते थे। विनोबा उन दिनों प्रकाश में नहीं आये थे। गांधीजी के अतिरिक्त किशोरलालभाई और कुमारप्पाजी ही उन दिनों प्रसिद्ध थे। किशोर-लालभाई का गहन चिन्तन तथा अध्ययन और कुमारप्पा के अर्थ-चिन्तन की गहराई और अभिव्यक्ति की प्रखरता तथा तेजस्विता बहुत आकर्षित करती थी। हम लोग कुमारप्पा के लेख प्रायः लोक-वाणी में प्रकाशित करते थे और उन्हीं दिनों 'तरक्की किसे कहा जाय ?' शीर्षक का उनका एक लेख-संग्रह भी प्रकाशित किया था। इससे सम्पर्क और घनिष्ठ हुआ। फिर जब भी वर्धा आना-जाना होता, कुमारप्पा-दर्शन या मगनवाड़ी-दर्शन—कुछ भी कहा जाय—एक नियमित और निश्चित कार्यक्रम ही हो गया। वर्धा में कुमारप्पा और मगनवाड़ी पर्यायवाची थे, क्योंकि कुमारप्पाजी की रग-रग में मगनवाड़ी समायी थी और मगनवाड़ी के कण-कण में कुमारप्पा साँस लेते नजर आते थे।

कुमारप्पा जीवन-योगी थे। उनकी श्रद्धा, ज्ञान और कर्म तीनों एक-दूसरे के पोषक और पूरक थे। जो मानते थे, उसे वे अपने ज्ञान के द्वारा जानते थे। उनकी श्रद्धा में कोई अज्ञात तथा रहस्यवादी तत्त्व नहीं था। गांधीजी को उन्होंने पहली नजर में ही ऊपर से नीचे तक और बाहर से भीतर तक जान लिया था, पहचान लिया था। किसी अन्धभक्ति से नहीं, बल्कि पूरी विवेक-बुद्धि से उन्होंने गांधीजी के प्रति अपने-आपको समर्पित कर दिया और वह समर्पण आजीवन रहा तथा उत्तरोत्तर गहरा

होता गया। वह समर्पण गांधीजी के व्यक्तित्व के प्रति जितना था, उससे कहीं अधिक गांधी-विचार के प्रति था, पर उस समर्पण में न तो कुमारप्पा ने गांधीजी को मानव से अधिक कुछ माना और न अपने व्यक्तित्व की स्वाधीनता को जरा भी कम होने दिया। गांधी-विचार —सत्य और अहिंसा पर आधारित समाज-व्यवस्था और व्यक्ति-जीवन, खासकर आर्थिक क्षेत्र में—उनके चिन्तन का मुख्य ध्येय बना। पर उनका आर्थिक चिन्तन कभी टुकड़ों में बँटा हुआ या आंशिक नहीं रहा. उन्होंने हमेशा उसे सारे समाज और सारे जीवन के एक अविभाज्य पर महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में ही हमेशा देखा। कुमारप्पा की भावना-शीलता हमेशा उनके ज्ञान और कर्म की निष्ठा के अधीन रही, पर उसकी गहराई और सघनता का पता तब चला, जब गांधीजी की हत्या का समाचार सुनकर वे न केवल विक्षिप्त-से हो गये, बल्कि उनकी आँखों से दीखना ही बन्द हो गया। कई दिनों के उपचार के बाद ही उनकी आँखों की ज्योति वापस लौटी, वे फिर संभले, यद्यपि तन-मन से तो वे टूट से ही गये।

कुमारप्पा की जो कुछ मान्यताएँ थीं, वे सौ प्रतिशत उनके तर्क से समर्थित थीं। जितनी प्रखर उनकी तर्क-शक्ति थी, उसे अभिव्यक्त कर सकनेवाली उनकी वाणी भी उतनी ही सशक्त और सक्षम थी। भाषा की दृष्टि से न अपनी मातृभाषा तमिल का उन्हें विशेष ज्ञान था और न हिन्दी का, बल्कि वे आजीवन अंग्रेजी में ही अपने विचार को अभिव्यक्ति देते गये। यदि वे जनता के हृदय तक जन-भाषा में—तमिल में या हिन्दी में—पहुँच पाते तो निश्चय ही, काकासाहब कालेलकर की राय के अनुसार वे देश में आग लगा देते।

कुमारप्पा की विवेकपूर्वक जो मान्यताएँ बनीं थीं, उनके अनुसार ही लगभग शत-प्रतिशत उनका आचरण था। उनके प्रत्येक व्यवहार के पीछे धारणा और तर्कसम्मत निश्चित कारण मौजूद रहता था। जो वे खाते-पहनते, जिस तरह वे उठते-बैठते, जो कुछ वे कहते और करते—वे

वैसा क्यों करते थे, वे वैसा ही क्यों करते थे—उसके पीछे उनकी मान्यता और विचार का पूरा तथा स्पष्ट समर्थन मौजूद रहता था। कथनी और करनी में तिल बराबर अन्तर वे अपने व्यवहार और बर्ताव में नहीं रखते थे और दूसरों को वह अन्तर करते देखते तो वे तुरन्त टोक देते थे, प्राय: सीधे-साधे और कभी-कभी व्यंग्य-विनोद में, पर कभी-कभी उनकी नाराजी भी बहुत बढ़ जाती थी। इसी कारण कुमारप्पा अपनी योग्यता और तपस्या के बावजूद बहुत लोक-संग्रह नहीं कर पाये, पर वे निश्चित रूप से स्थितप्रज्ञ रहे और उनके जागृत जीवन का क्षण-क्षण इसका साक्षी था।

कुमारप्पा ने लगभग अकेले ही इस देश में ग्रामोद्योग का राष्ट्रव्यापी आन्दोलन खड़ा किया था। उन्होंने देशभर में ग्रामोद्योगों का दर्शन-शास्त्र समझाया, ग्रामोद्योग खड़े किये, ग्रामोद्योगों का प्रचार किया, उनमें शोध-खोज की और संगठन किया। एक तरफ से वे भारतीय ग्रामोद्योग आन्दोलन के 'मित्र, दार्शनिक और निर्देशक' सभी कुछ थे। इसमें शक नहीं कि उन्हें गांधीजी का पूर्ण संरक्षण और समर्थन प्राप्त था, फिर भी एक व्यक्ति इतने बड़े देश में ग्रामोद्योग का आन्दोलन खड़ा कर सका, यह उनकी बहुत विशिष्ट उपलब्धि थी। ये दोनों बातें कुमारप्पा के जीवन और व्यक्तित्व को सदा ही अध्ययन के योग्य तथा प्रेरणा का स्रोत रखेंगी, इसमें सन्देह नहीं।

एक तीसरी बात और है। कुमारप्पा ने इस देश के अर्थ-चिन्तन और आयोजन को जो दिशा दी, वह बहुत मूल्यवान् और सराहनीय है। आधुनिक भाषा में कहा जाय तो वे परिस्थिति-शास्त्र (Ecology) के बहुत बड़े ज्ञाता थे। वे अपने अर्थ-चिन्तन में समग्र प्रकृति—सारी जीव-सृष्टि, मनुष्य, पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े तथा जड़ प्रकृति—की दृष्टि से सोचते थे और प्रकृति के चक्र को बिना समझे-बूझे खण्ड-खण्ड कर डालने के बजाय उसे हमेशा परिपूर्ण होने देने के पक्षपाती थे। उनका आयोजन हमेशा समाज के कमजोर-से-कमजोर वर्ग को सबसे आगे रखकर होता

था। अभी तक हम इस देश में और सारी दुनिया में भी बहुत पिछड़े हुए हैं, हमारी सारी तकनीक कुछ विशिष्ट भागों में कुछ विशिष्ट वर्गों के हितों तक ही सीमित है, इसलिए सीमित स्वार्थों और संघर्षों में हम लोग उलझे हुए हैं। अभी इस देश को और दुनिया को सर्वोदय के दृष्टिकोण और व्यवहार तक पहुँचने में बहुत लम्बा रास्ता तय करना है। उपर्युक्त तीनों दृष्टियों से कुमारप्पा का दर्शन, जीवन और व्यवहार न केवल इस देश के लोगों के लिए, बल्कि सारी दुनिया के लोगों के लिए, बहुत प्रेरणा-प्रद तथा उपयोगी होनेवाला है।

मुझे यह आवश्यक लगता है कि कुमारप्पा के दृष्टिकोण, कार्य और रचनाओं का गहराई से अध्ययन होना चाहिए और उन्हें प्रकाश में लाना चाहिए। जो प्रयास इस दिशा में इस पुस्तक में किया गया है, वह बहुत प्राथमिक तो है ही बहुत अधूरा भी है। अभी बहुत-सी सामग्री प्रकाश में नहीं आयी है और जो प्रकाशित हुई है, उसमें भी बहुत कुछ दुष्प्राप्य होने लगी है। कुछ मित्रों ने अपने पास की सामग्री के दर्शन कराने से भी इनकार किया है। इन कठिनाइयों के बीच जो कुछ बन सका, वह यहाँ प्रस्तुत है। विशेषज्ञों के लिए विशेषज्ञों की भाषा में कुमारप्पाजी के विचार और दृष्टिकोण को रखना आवश्यक है। वह भविष्य में अवश्य होगा, ऐसा लगता है। मेरा यह भी मानना है कि स्वार्थ-दृष्टि से रहित प्रत्येक मंगल-विचार और कार्य बीज-रूप में जन-मानस पर पड़ता है, तो वह अवश्य अंकुरित होता है, फूलता-फलता है और नये बीज छोड़ जाता है। देश और काल का विचार उसमें बहुत गौण है, क्योंकि भव-भूति के शब्दों में 'काल निरवधि है और पृथ्वी विपुल।' कुमारप्पा का व्यक्तित्व और विचार ऐसा ही देशकालातीत है।

–जवाहिरलाल जैन

'जीवन-ज्योति'
ए० २१, बजाजनगर, जयपुर-४
गुरुपूर्णिमा, २६-७-'७२

अनुक्रम

पहला भाग : जीवन-रेखा

दूसरा भाग : व्यक्तित्व

तीसरा भाग : विचार

पहला भाग

जीवन-रेखा

एक

•

एक बनिया दूसरे बनिये के चंगुल में

समय २.३० मध्याह्नोत्तर

तारीख : ९ मई १९२९

स्थान : सत्याग्रह आश्रम, साबरमती

निश्चित समय से दस मिनट पहले अद्यतन पश्चिमी पोशाक में, कुशल दर्जी द्वारा तैयार किये गये रेशमी सूट-बूट पहने, छड़ी हिलाते हुए एक मद्रासी नौजवान चिलचिलाती धूप में आश्रम के मेहमान-घर से गांधीजी की कुटिया की तरफ बढ़ रहा है।

घने पेड़ की शीतल छाया में पोपले मुँह का एक बूढ़ा गोबर से लिपे-पुते, साफ-सुथरे आँगन में बैठा हुआ चरखा कात रहा है। छड़ी हिलाते हुए यह नौजवान उस बूढ़े के पास आकर खड़ा होता है और छड़ी के सहारे झुककर चरखे की तरफ देखता रहता है। बूढ़ा आदमी ढाई बजने के पाँच मिनट पहले अपनी घड़ी निकालता है और समय देखता है।

पोपले मुँह पर मुस्कराहट आ जाती है। सम्मोहक मुस्कराहट के साथ बूढ़ा पूछता है : "क्या आप कुमारप्पा हैं ?"

नौजवान के दिमाग में एकदम बिजली-सी कौंधती है, उसे भान होता है कि वह बम्बई से चलकर अहमदाबाद तक जिस आदमी से मिलने आया

है, यह बूढ़ा वही व्यक्ति है। फिर भी पुष्टि के लिए वह प्रश्न के जवाब में दूसरा प्रश्न करता है, "क्या आप गांधी हैं ?"

बूढ़ा मुस्कराहट के साथ स्वीकृतिसूचक ढंग से सिर हिला देता है।

नौजवान अपनी रहन-सहन की पद्धति, साफ-सुथरे रेशमी सूट-बूट आदि का क्षणभर भी ख्याल किये बिना जमीन पर बैठ जाता है। निश्चय ही उसे योरोपियन लोगों की तरह पैर फैलाकर असुविधापूर्वक बैठना पड़ता है।

बूढ़ा आदमी तुरन्त ही एक दूसरे बूढ़े आदमी को इशारा करता है। वह कुटिया के भीतर जाता है और एक सादी-सी कुर्सी लेकर लौटता है।

बूढ़ा आदमी मुस्कराकर नौजवान को इशारा करता है और कहता है, "उठो, कुर्सी पर आराम से बैठो।"

नौजवान जवाब देता है, "चूँकि आप धरती पर बैठे हुए हैं, इसलिए मेरा विचार कुर्सी पर बैठने का नहीं है।"

यह नौजवान जोसफ चेल्लादुराई कुमारप्पा थे।

दन्तविहीन बूढ़े सज्जन महात्मा गांधी थे और कुमारप्पा के लिए कुर्सी लाकर रखनेवाले वृद्ध महानुभाव गुजरात विद्यापीठ के प्रथम उप-कुलपति श्री दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर उर्फ काकासाहब थे।

इस प्रथम मिलन ने बूढ़े गांधी और नौजवान कुमारप्पा का ऐसा सुदृढ़ गठबन्धन किया कि वे एक-दूसरे से आजीवन अलग नहीं हो सके और १९४८ में जिस तारीख को गांधी ने अपना शरीर छोड़ा, बारह वर्ष बाद उसी तारीख को कुमारप्पा उन्हींके चरण-चिह्नों पर परलोक को चल पड़े।

१९२९ में कुमारप्पा अपनी अमेरिका की यात्रा से लौटे थे। उन्होंने वहाँ भारत की सार्वजनिक वित्त-व्यवस्था का बहुत गहराई से अध्ययन किया था और अनीति के द्वारा अंग्रेजों ने भारत का किस प्रकार शोषण किया, इस पर उन्होंने एक अधिकारपूर्ण प्रबन्ध तैयार किया था। उनके मित्रों का सुझाव था कि इस प्रबन्ध को भारत में प्रकाशित करवाना उचित होगा। कुमारप्पा कई प्रकाशकों से इस संबंध में पत्र-व्यवहार कर रहे थे।

इसी समय यह भी चर्चा आयी कि गांधीजी को यह प्रबन्ध दिखा लें तो बहुत अच्छा रहे।

कुमारप्पा का गांधीजी से कोई परिचय नहीं था। सिर्फ नाम से ही उनको जानते थे। लेकिन जिन सज्जन ने यह सुझाव दिया था, वे अपनी बात पर डटे रहे। मालूम करने से पता चला कि अप्रैल के अन्तिम सप्ताह में गांधीजी दक्षिण भारत की हरिजन-यात्रा के बाद बम्बई आनेवाले हैं। कुमारप्पा बम्बई में आडिटर के रूप में काम करते थे। तय हुआ कि कुमारप्पा मणिभुवन में जाकर गांधीजी से मिलें।

कुमारप्पा अपनी पश्चिमी पोशाक में प्रबन्ध की प्रति लेकर मणिभुवन पहुँचे और सीढ़ियाँ चढ़कर गांधीजी के कमरे तक पहुँचे। दरवाजा खटखटाने पर खादी के खुरदरे तथा ढीले-ढाले कपड़ोंवाले एक अधेड़ आदमी ने दरवाजा खोला। कुमारप्पा ने समझा कि यह गांधी का कोई खिदमतगार है।

"हम गांधीजी से मिलना चाहते हैं।" उस खिदमतगार-से लगनेवाले आदमी ने साफ-सुथरी और शुद्ध अंग्रेजी भाषा में उत्तर दिया, "गांधीजी इस समय कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक में व्यस्त हैं, इसलिए खेद है उनसे अभी मिलना नहीं हो सकेगा।" कुमारप्पा पर उस सेवक की अंग्रेजी भाषा का असर पड़ा। वे साथ में अपना प्रबन्ध ले ही गये थे। उक्त प्रबन्ध की पाण्डुलिपि उन्होंने उस व्यक्ति को दे दी और अपना नाम-पता लिखाकर उक्त पांडुलिपि गांधीजी को दे देने को कहा। यह खादी के ढीले-ढाले कपड़ोंवाले 'खिदमतगार' गांधीजी के निजी सचिव श्री प्यारेलाल थे।

बाद में श्री प्यारेलाल का फोन कुमारप्पा के दफ्तर में आया और श्री प्यारेलाल ने कहा कि गांधीजी आपका प्रबन्ध पढ़ लेने के बाद आपसे अहमदाबाद में मिलना चाहते हैं और उसके लिए ९ मई १९२९ का ढाई बजे का समय उपयुक्त रहेगा।

कुमारप्पा निश्चित तिथि को साबरमती आश्रम पहुँचे। आश्रम के मेहमान-घर में उन्हें ठहराया गया। इंग्लैण्ड और अमेरिका में बरसों रहने-

वाला यह नौजवान इस मेहमान-घर को देखकर बहुत घबराया। इस तथाकथित मेहमान-घर में सिवा एक चारपाई के और कोई सामान नहीं था। शौच, स्नान आदि की भी जो व्यवस्था थी, उसे देखकर कुमारप्पा वहाँ से जल्दी-से-जल्दी वापस लौट जाने को उत्सुक हुए। फिर भी जैसे-तैसे उन्होंने तीसरे पहर तक का वक्त काट देना ही उचित समझा। मेहमान-घर से गांधीजी की कुटिया का संकेत भी दे दिया गया था और उन्हें बता दिया गया था कि निश्चित समय पर वे वहाँ पहुँच जायँ। दो बजे के बाद मेहमान-घर से रवाना होकर विलायत और अमेरिका से शिक्षा-प्राप्त यह नौजवान उस दिशा में चल पड़ा, जिधर वह आजीवन बढ़ता ही गया।

गांधी और कुमारप्पा के बीच बातचीत शुरू हुई। गांधीजी बोले, "मुझे तुम्हारा प्रबन्ध अच्छा लगा। मैं इसे 'यंग इण्डिया' में क्रमिक रूप से छापना चाहता हूँ।"

फिर गांधीजी ने कहा, "आपको श्री शंकरलाल बैंकर के साथ या काकासाहब कालेलकर के साथ गुजरात विद्यापीठ में काम करना होगा।" फिर एक व्यंग्यपूर्ण मुस्कराहट के साथ गांधीजी ने कहा, "गुजरात विद्यापीठ के उप-कुलपति काका कालेलकर वही व्यक्ति हैं, जिन्होंने आपके लिए कुर्सी लाकर रखी है।"

यह मालूम नहीं कि कुमारप्पा श्री शंकरलाल बैंकर से मिले या नहीं, पर काकासाहब से उनका मिलना हुआ। काकासाहब को जब मालूम हुआ कि कुमारप्पा न गुजराती जानते हैं और न हिन्दी, बल्कि वे तमिल भी कम जानते हैं, तो उन्होंने विद्यापीठ में कोई कक्षा अध्यापन के लिए देने से इनकार कर दिया। पर वे गांधीजी के अर्थशास्त्र-संबंधी दृष्टिकोण से परिचित तथा सहमत थे और उन्होंने कुमारप्पा का प्रबन्ध भी पढ़ा था, इसलिए वे उन्हें छोड़ने को भी तैयार नहीं थे, पर उस समय कुछ निश्चय नहीं हुआ। कुमारप्पा भी शायद काकासाहब से मिलकर तथा उक्त शिक्षण-संबंधी दृष्टिकोण से प्रसन्न नहीं हुए और बम्बई लौट गये।

बम्बई में डाक से उन्हें काकासाहब का पत्र मिला, "आप तुरन्त अहमदाबाद आ जाइये। जो काम गांधीजी ने आपको सौंपा है, उसमें आपकी सहायता करने में हम सबको प्रसन्नता होगी।"

इस प्रकार केवल अंग्रेजी भाषा के जानकार कुमारप्पा राष्ट्रीय विद्यापीठ के प्राध्यापक बने, जहाँ गुजराती या हिन्दी न जानने के कारण उन्हें कोई कक्षा पढ़ाने को नहीं दी गयी और उन्हें सर्वेक्षण करना था गुजरात के गाँवों का, जहाँ के निवासी अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त और कोई भाषा समझते ही न थे !

लेकिन गांधीजी ने कुमारप्पा के व्यक्तित्व को, उनके विचार को, उनकी योग्यता और शक्ति को एक नजर में ही आँक लिया था और सारी कठिनाइयों के बावजूद उन्हें अपना लेने पर तुल गये थे। उधर कुमारप्पा भी गांधीजी के विचार और आकर्षक व्यक्तित्व से इतने प्रभावित हो गये थे कि वे अपना सर्वस्व समर्पण करने को तैयार थे।

जिस जादूगर ने हिमालय की कंदराओं में जाने के लिए तत्पर तत्त्वज्ञानी विनोबा को हिमालय से छीनकर साबरमती में खींच लिया था, उसीने सारी निर्योग्यताओं के बावजूद अर्थशास्त्री और हिसाबी कुमारप्पा को अपने स्थान और अपने काम से छुड़ाकर अहमदाबाद में ला बिठाया।

यह कुमारप्पा कौन था ?

●

दो

•

जन्म और प्रारम्भिक जीवन

कुमारप्पा का पूरा नाम जोसफ चेल्लादुराई कुमारप्पा या जे० सी० कुमारप्पा था। उनका जन्म ४ जनवरी १८९२ के दिन तंजावूर में हुआ था। उनके पिता श्री एस० डी० कारनेलियस मद्रास-सरकार के सार्वजनिक निर्माण-विभाग में एक अधिकारी के रूप में तंजावूर में नियुक्त थे। वास्तव में श्रीकारनेलियस मदुराई के निवासी तथा कट्टर ईसाई परिवार के थे।

कुमारप्पा अपने माता-पिता की नौवीं सन्तान थे। उनका जन्म अपने माँ-बाप की प्रौढ़ावस्था में हुआ था, फिर भी उन्हें अपने परिवार के सभी लोगों का स्नेह मिला था। श्री कारनेलियस बहुत नियमित, मितव्ययी, सार्वजनिक भावनायुक्त तथा बहुत अनुशासन-प्रिय व्यक्ति थे। उनका जीवन बहुत नियमबद्ध था। वे प्रातःकाल उठते थे और तौलिया लेकर सारे घर में घूमकर सभी बच्चों को जगा देते थे तथा अपने-अपने काम में लगा देते थे। वे न केवल अपने घर की सफाई का ध्यान रखते थे, बल्कि बगीचे को भी बहुत साफ-सुथरा और सुन्दर रखने में सदैव प्रयत्नशील रहते थे। वे प्रतिदिन प्रातःकाल छड़ी लेकर घूमने निकलते थे और इस बात का ध्यान रखते थे कि आसपास में कोई भी सार्वजनिक मार्ग पर लघुशंका आदि कर गन्दगी न फैला सके। वे इस बात पर भी निगाह रखते थे कि इस क्षेत्र के सरकारी कर्मचारी सफाई करने-कराने के अपने कर्तव्य को सही तरीके पर पूरा करते हैं या नहीं। वे बच्चों के नाखूनों तक की देखभाल

करते थे। उन्हें अच्छी-से-अच्छी पाठशाला में पढ़ाते और उनकी पढ़ाई में भी मदद करते थे। यद्यपि कुमारप्पा का जन्म श्री कारनेलियस की उत्तरावस्था में हुआ था, फिर भी वे मोहांध नहीं थे और गलती करने पर कुमारप्पा को सजा देने से भी नहीं चूकते थे। नियमितता, अनुशासनप्रियता और दृढ़ता के गुण कुमारप्पा को अपने पिता की ओर से विरासत में मिले, ऐसा कहना शायद गलत नहीं होगा।

कुमारप्पा की माता बहुत पवित्र और साधु स्वभाव की स्त्री थीं। वे बहुत पढ़ी-लिखी तो नहीं थीं, पर उन्हें तमिल भाषा का अच्छा ज्ञान था और अपने समय की स्त्रियों की तुलना में उनका अध्ययन व्यापक था। वे दक्षिण भारत के भक्त ईसाई परिवार की महिला थीं, इसलिए उनके जीवन में अपेक्षाकृत सादगी थी और वे ईसामसीह के सिद्धान्तों पर चलने का प्रयास करती थीं। दया और परोपकार की वृत्ति उनमें व्यापक और व्यावहारिक थी। वे घर का काम-काज करने के अतिरिक्त अपनी सन्तान को भगवान् का भजन करनेवाली, गरीबों की सहायता करनेवाली और दयालु बनाने का प्रयत्न करती रहती थीं। वे बच्चों को कभी-कभी मुर्गी के अण्डे बेचना सिखातीं और उससे जो पैसा मिलता, उसे गरीबों की मदद में लगाने को प्रोत्साहित करतीं। बड़े दिन की छुट्टियों में वे अपने बच्चों को चन्दा इकट्ठा करने का कार्य देतीं। बच्चे सण्डे यूनियन के लिए चन्दा इकट्ठा करते। इस प्रकार लोगों से मिलने और सार्वजनिक तथा सामाजिक कार्य करने की रुचि जाग्रत होती और सामाजिक कार्य-विधि से बालकों का परिचय प्रारम्भ से ही हो जाता था।

कुमारप्पा का बचपन का पारिवारिक नाम चेल्ला था। बचपन से ही उनमें जिज्ञासा की तीव्र वृत्ति थी। उन दिनों मशीन और इंजन तथा अन्य यांत्रिक वस्तुओं को देखने और समझने का उन्हें हमेशा चाव रहता था। उनका दूसरा गुण कष्ट सहन करने की शक्ति थी। उनके बड़े भाई उनसे पांच-सात वर्ष बड़े थे। जैसा बच्चों में अक्सर होता है, वे चेल्ला को अक्सर तंग भी करते रहते थे। चेल्ला की सहिष्णुता की परीक्षा करने के लिए

वे चेल्ला की हथेलियों पर बेंत लगाते थे। चेल्ला बचपन में भी शारीरिक कष्ट के प्रति इतने निर्भय और सहनशील थे कि हथेली पर २० बेंत खाकर भी उफ नहीं करते थे। लेकिन चेल्ला यदि अपने कष्ट के प्रति वज्र की भाँति कठोर थे तो दूसरों के कष्ट के प्रति वे कुसुम की भाँति कोमल भी थे। उन्हें असहायों तथा निर्बलों के प्रति किये जानेवाले अन्याय और निर्दयता से बहुत ही चिढ़ होती थी। जब उनकी अवस्था पाँच ही वर्ष की थी, तब उन्हें कडालूर के सेण्ट जोसफ स्कूल में पढ़ने के लिए भेजा गया। पहले ही दिन उन्होंने एक विद्यार्थी को शिक्षक के हाथों बेंत से पिटते देखा। वे तत्काल ही रोकर अपनी श्रेणी से भाग गये और फिर कभी उस स्कूल में नहीं जा सके।

चेल्ला बचपन से ही वक्त के बहुत पाबन्द थे। वे सुबह जल्दी उठकर स्कूल का काम कर डालते थे। लेकिन काम पूरा करने में अगर कभी देर हो जाती तो वे बिना नाश्ता किये ही स्कूल के लिए रवाना हो जाया करते थे। उन्हें किसी भी काम के लिए देर से पहुँचने से बहुत नफरत थी। इस संबंध में एक रुचिकर प्रसंग है। जब वे बारह-तेरह वर्ष के थे, तो एक दिन उन्होंने अपने मित्र के साथ टेनिस-क्लब में साढ़े पाँच बजे मिलने और टेनिस खेलने का निश्चय किया, लेकिन जब वे घर पहुँचे तो पिता ने उनको बुलाया और कहा कि अभी कस्बे में जाओ और लालटेन के लिए शीशा ले आओ। चेल्ला बोले, "मैं आज नहीं जा सकता, क्योंकि मैं पहले ही एक मित्र से साढ़े पाँच बजे मिलने का वादा कर चुका हूँ। मुझे अपना वादा निभाना होगा।" पिता बहुत नाराज हुए और चेल्ला को लताड़ने लगे। चेल्ला ने कहा, "पिताजी, अगर आपने मुझे पहले कह दिया होता तो मैं आज अपने मित्र से मिलने का समय निश्चित न करता, पर अब तो मैं शीशा कल ही ला सकता हूँ।" इतना कहकर चेल्ला चले गये। उन्होंने अपने मित्र के साथ टेनिस खेली और जब वे वापस आकर अपनी माँ के पास गये तो उन्होंने पिता की नाराजगी की सारी घटना माँ को कह सुनायी। माता बोली, "नहीं चेल्ला, पिताजी नाराज होने के बजाय तुम्हारे प्रति इस बात

का गर्व करते हैं कि तुम अपने मित्र को दिये हुए वचन पर दृढ़ रहे।" पिता ने भी बाद में अपने बड़े लड़के से कहा, "इस छोकरे की तरफ देखो, यह अपने वचन का पालन करने के बारे में कितना दृढ़प्रतिज्ञ है। मालूम नहीं बड़ा होकर यह क्या बनेगा ?"

चेल्ला १२-१३ वर्ष की उम्रमें अपने पिता के साथ मद्रास लौट आये और डवटन यूरोपियन स्कूल में भर्ती हो गये। तत्पश्चात् उन्होंने सेण्ट पाल हाईस्कूल से मैट्रिक की परीक्षा पास की। स्कूल में वे मेधावी छात्रों में गिने जाते थे और उनकी आरंभिक रुचि तथा झुकाव को देखकर इंजीनियरिंग की शिक्षा की तरफ ही उनका तथा माता-पिता का ध्यान जाता था। वे गणित में बहुत तेज थे। इतिहास में उनकी रुचि कम थी। पहले वर्ष तो वे कम उम्र के होने के कारण मैट्रिक की परीक्षा में बैठने से रोक दिये गये। दूसरे साल पाठ्य-पुस्तकें बदल गयीं और परीक्षा में बैठने के लिए उन्हें दो-तीन विषयों की नयी पुस्तकों का अध्ययन करना पड़ा। स्कल की जाँच-परीक्षा में इतिहास के विषय में उन्हें कम अंक प्राप्त हुए। प्रधानाध्यापक ने उन्हें चेतावनी दी कि वे परीक्षा के पहले इन एक-दो महीनों में इतिहास पर विशेष बल दें। इसका परिणाम यह हुआ कि कुमारप्पा ने मैट्रिक की परीक्षा में इतिहास के विषय में तो विशेष योग्यता प्राप्त की और अपने मुख्य विषय गणित में उन्हें पास होने के लायक ही अंक मिले।

जब वे कॉलेज में भर्ती होने के लिए गये तो क्रिश्चियन कॉलेज के प्रिन्सिपल ने उन्हें गणित में भरती करने से इनकार किया और इतिहास में भरती करने की इच्छा प्रकट की। कुमारप्पा ने कॉलेज के आचार्य महोदय को यह समझाने का प्रयास किया कि इतिहास उन्हें पसन्द नहीं है, वे इंजीनियरिंग की शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं, इसके लिए गणित आवश्यक है। पर आचार्य महोदय टस-से-मस न हुए। परिणाम यह हुआ कि कुमारप्पा को इंजीनियरिंग का विचार ही छोड़ देना पड़ा और हिसाब तथा आडिट के शिक्षण और पेशे को भविष्य में अपनाने के लिए मजबूर होना पड़ा।

यदि आचार्य महोदय कुछ समझदारी से काम लेते तो कौन जानता है कि कुमारप्पा के जीवन की धारा किस ओर बहती ! लेकिन समझदार प्राणी होने के बावजूद आदमी में सामान्य समझदारी भी कितनी विरल है !

चेल्ला अपने स्कूली शिक्षण की अवधि में अच्छे स्काउट रहे थे और अपने स्काउट मास्टर श्री हावर्ड ओकले की सलाह से ही वे हिसाब-किताब अर्थात् एकाउण्टेन्सी की तरफ झुके थे। श्री ओकले ने लन्दन की इनकारपोरेटेड एका-उण्टेंट्स की एक प्रसिद्ध फर्म के सदस्य मि० बानेस के नीचे उनके शिक्षण की व्यवस्था कर दी थी। अतः चेल्ला १९१३ में विलायत चले गये। पाँच वर्ष में वे इस विषय में स्नातक हुए और फर्म ने उन्हें अपना भागीदार बनाने के लिए आमंत्रित किया। पर उनकी माता उन्हें भारत में ही बुलाना चाहती थीं। चेल्ला इतने वर्ष विलायत में रहकर अंग्रेजी तौर-तरीकों में पूरी तरह रम गये थे और उनकी माँ को यह आशंका होने लगी थी कि शायद चेल्ला सदा के लिए वहीं बस जायगा। अतः जब १९१९ में महायुद्ध समाप्त हुआ, तो चेल्ला की माता ने उक्त फर्म के भागीदारों को लिखा कि वे जैसे भी हो, कुमारप्पा को भारतवर्ष वापस भेज दें।

भारत लौटकर कुमारप्पा एक अंग्रेजी फर्म में शामिल हो गये और एकाउण्टेण्ट के रूप में काम करने लगे। १९२४ में वे उससे अलग हो गये और उन्होंने कारनेलियस एण्ड डावर के नाम से आडिटिंग के एक नये संस्थान की स्थापना की।

इस समय कुमारप्पा के बड़े भाई श्री जे० एम० कुमारप्पा अमेरिका में थे। वे जानते थे कि चेल्ला को आडिटर का काम जमाने में कितना कठिन परिश्रम करना पड़ा है। इसलिए उन्होंने चेल्ला से कुछ दिन के लिए छुट्टी मनाने की दृष्टि से अमेरिका आ जाने को कहा। १९२६ में चेल्ला ने छुट्टी की दृष्टि से अमेरिका जाने का निश्चय किया, पर एक महीने बाद ही उनका मन छुट्टी से भर गया और अमेरिका में रहकर उन्होंने आगे अध्ययन करने का निश्चय किया। उन्होंने साइराक्यूस विश्वविद्यालय से व्यावसायिक प्रशासन के विषय में बी० एस-सी० की परीक्षा दी।

परीक्षा के पश्चात् वे अपने प्रोफेसर डॉ० विलियम पेक की सलाह से कोलंबिया विश्वविद्यालय में चले गये, जहाँ से उन्होंने १९२८ में एम० ए० पास किया। इस परीक्षा के लिए उनका विषय बम्बई की म्युनिसिपल वित्तीय व्यवस्था से संबंधित था। यहाँ उन्होंने अपने मुख्य प्रोफेसर डॉ० सेलिगमेन की सलाह से 'सार्वजनिक वित्त व्यवस्था और हमारी दरिद्रता' (Public Financc and India's Poverty) इस विषय पर वहुत अधिकारपूर्ण प्रबन्ध लिखा। इस अध्ययन ने कुमारप्पा के हृदय को ही बदल दिया। अंग्रेजों के अन्याय और शोषण की इस गाथा ने चेल्ला को पक्का राष्ट्रवादी बना दिया।

इसी हृदय-परिवर्तन के परिणामस्वरूप जब १९२९ में चेल्ला वापस हिन्दुस्तान आये, तो उन्होंने जोसफ कारनेलियस कुमारप्पा नाम ग्रहण कर लिया। कुमारप्पा इनका हिन्दू परिवार का प्राचीन नाम है।

इस नाम को बदलने के संबंध में भी एक प्रसंग स्मरणीय है। नाम बदलने के बाद मैसूर-सरकार द्वारा उन्हें आमंत्रित किया गया। जिस दिन वे बँगलोर पहुँचे, रेडियो पर उनकी एक वार्ता रखी गयी। पहले से इसकी कोई व्यवस्था नहीं थी। इसलिए यह किसीको नहीं मालूम था कि उस दिन कुमारप्पा बँगलोर में होंगे। वार्ता के पश्चात् जब कुमारप्पा रेडियो स्टेशन का निरीक्षण कर रहे थे तो दो व्यक्ति उनसे मिलने के लिए आये। कुमारप्पा उन्हें नहीं पहचान सके। आगन्तुकों ने पूछा, "आप कुमारप्पा हैं या कारनेलियस ?" मुस्कराहट के साथ उत्तर मिला, "जी, मैं दोनों हूँ।"

भारत में आने के बाद कुमारप्पा ने अपने इसी प्रबन्ध को गांधीजी को भेजा था और उस पर उनकी राय चाही थी।

तीन

•

जब कुमारप्पा 'यंग इण्डिया' के सम्पादक बने

गांधीजी से मिलने तक कुमारप्पा का रहन-सहन पूरी तरह साहबी था। लेकिन जब उन्होंने अपने-आपको गांधीजी को सुपुर्द कर देनेका तय कर लिया, तब इस समर्पण के परिणामस्वरूप क्या-क्या परिवर्तन स्वयं में होने चाहिए, उसका भी हिसाब सम्भवतः उन्होंने लगा लिया और इसी कारण भारतीय वेश-भूषा अपना लेने का निश्चय किया। इस संबंध में उन्होंने अपने पुराने मित्र श्री सी० एच० सुपारीवाला से सलाह की। यह वही भाई थे, जिनके आग्रह पर कुमारप्पा गांधीजी से मिलने गये थे। श्री सुपारीवाला उन्हें बम्बई के कालबादेवी रोड स्थित खादी-भंडार में ले गये। यहाँ का एक प्रसंग मनो-रंजक है। भण्डार में जाकर उन्होंने कुर्ता, कोट, टोपी आदि की नाप दी और बोले, "हमारी धोती की भी नाप ले लीजिये।" भण्डार के विक्रेता ने उस सूट-बूटधारी नौजवान को सिर से पैर तक देखा और मुस्कराकर बोला, "धोतियों के लिए नाप नहीं ली जाती है। आपके लिए ४७ इञ्चवाली धोती सम्भवतः उपयुक्त होगी।" इस प्रकार कुमारप्पा ने आधा दर्जन धोती, कुर्ते, टोपी और गांधीजी के चित्र से युक्त बटनवाले लम्बे कोट से अपना कायाकल्प आरम्भ किया।

इस संबंध में एक दूसरा प्रसंग और रोचक है। जब उनके एक मित्र डॉ० जॉन मेकेन्जी ने सुना कि कुमारप्पा गांधीजी के साथ काम करने के लिए जानेवाले हैं और वे यह परिवर्तन विदेशी कपड़े छोड़कर तथा

भारतीय वेश-भूषा धारण करके करेंगे, तो जब कुमारप्पा ने पहली बार नये कपड़े पहने, तब श्रीमती मेकेन्जी ने अपने यहाँ चाय के लिए आने का विशेष निमंत्रण दिया। कुमारप्पा ने अपने एक महाराष्ट्रीय मित्र की सहायता से धोती, कुर्ता, कोट और टोपी पहनी और मेकेन्जी के घर गये। वहाँ पहुँचने पर कुमारप्पा ने अभिवादन के समय अपनी टोपी उतार ली। श्रीमती मेकेन्जी जोर से हँस पड़ीं और ताली बजाकर बोलीं, "महाशय, आपको भारतीय वेश-भूषा के साथ भारतीय शिष्टाचार भी सीखना होगा। अभिवादन करते समय अपनी टोपी उतारने के बजाय आपको अपनी चप्पलें उतारनी चाहिए।"

गांधीजी से अपनी ऐतिहासिक भेंट के बाद जब कुमारप्पा वापस अहमदाबाद आये, तब वे गुजरात-विद्यापीठ में प्राध्यापक नियुक्त हुए। जब वे विद्यापीठ पहुँचे तो श्री काका कालेलकर के शब्दों में 'वे खादी-कुर्ता और गांधी-टोपी में थे।' कपड़े ढीले-ढाले थे और उन कपड़ों में कुमारप्पा अजीब-से लगते थे। जब भोजन का समय हुआ तो श्री काकासाहब ने उनके लिए अपने पास ही टेबुल, कुर्सी की व्यवस्था कर दी। कुमारप्पा बोले, "मैं आप सब लोगों की तरह जमीन पर बैठकर ही भोजन करूँगा।"

काकासाहब, "आप औपचारिकता में मत जाइये और कुर्सी पर बैठकर ही भोजन कीजिये।" कुमारप्पा ने चट से जवाब दिया, "मैं अभी इतना बूढ़ा नहीं हुआ हूँ कि अपने-आपको बदल न सकूँ।" कुमारप्पा जमीन पर ही बैठे। लेकिन अन्य लोगों की तरह पलथी मारकर बैठना उनके लिए असम्भव था, वे अनभ्यस्त पश्चिमी लोगों की तरह ही टाँगें फैलाकर और शरीर को टेढ़ा-मेढ़ा करके बैठ सके। पर उन्होंने जो तरीका अपनाने का निश्चय कर लिया था, उस पर कड़ाई से कायम रहे।

गुजरात विद्यापीठ के उप-कुलपति के सामने एक दूसरी कठिनाई और थी। कुमारप्पा विद्यापीठ के प्राध्यापक तो बन गये थे, पर वे पढ़ायेंगे क्या?

कुमारप्पा को न हिन्दी आती थी, न गुजराती। और कुमारप्पा अंग्रेजी में पढ़ायें, यह काकासाहब को सहन नहीं था। काकासाहब ने कुमारप्पा

से कहा, "आप मद्रास के रहनेवाले हैं, मुझे तमिल सिखा दीजिये।" पर कुमारप्पा को तो अपनी मातृभाषा तमिल का भी कुछ विशेष ज्ञान नहीं था। उन्होंने चतुराई से मुस्कराकर कहा, "काकासाहब, यह नहीं होगा। आप मुझसे तमिल इसलिए सीखना चाहते हैं कि आप मुझे गुजराती या हिन्दी सिखाने का प्रयास करें।" कुमारप्पा ने न हिन्दी-गुजराती सीखी और न काका कालेलकर ने उन्हें गुजरात विद्यापीठ में कोई कक्षा पढ़ाने के लिए दी। इस प्रकार कुमारप्पा गुजरात विद्यापीठ के बिना कक्षा और बिना विद्यार्थियों के प्राध्यापक बने रहे। लेकिन गांधीजी ने इस परिस्थिति में भी रास्ता निकाल ही लिया। वे कुमारप्पा के अर्थशास्त्र-संबंधी दृष्टिकोण के समर्थक थे और उनकी शक्तियों का सही उपयोग करना चाहते थे। वे अर्थशास्त्र के विषय में प्रचलित सिद्धान्तों को सही नहीं मानते थे और उनका विचार था कि तत्कालीन अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का निर्धारण यूरोप की आर्थिक परिस्थितियों और जीवन के अनुकूल है। इस देश की आर्थिक स्थिति और जीवन-प्रणाली यूरोप से बिलकुल भिन्न है, अतः हमें पश्चिमी अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों को यहाँ लागू नहीं करना चाहिए, बल्कि हमें यहाँ की परिस्थितियों का अध्ययन करके स्वतन्त्र रूप से अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों का निर्धारण करना चाहिए। इस संबंध में गुरुकुल कांगड़ी में गांधीजी ने एक विशेष भाषण भी दिया था। गांधीजी विद्यापीठ के शिक्षण के माध्यम में भी परिवर्तन नहीं करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने यह निश्चय किया कि कुमारप्पा विद्यापीठ के विद्यार्थियों और प्राध्यापकों की सहायता से आर्थिक सर्वेक्षण का काम हाथ में लें। काका कालेलकर भी इस विचार से सहमत थे। अतः सरदार वल्लभभाई पटेल से सलाह लेकर मातर ताल्लुके के आर्थिक सर्वेक्षण का निर्णय किया गया। कुमारप्पा को भी यह विचार पसन्द आया और वे श्री झवेरभाई पटेल तथा अन्य विद्यार्थियों को लेकर मातर ताल्लुका चले गये। इस रिपोर्ट के सम्बन्ध में अलग से चर्चा की जायगी। यहाँ इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि कुमारप्पा को भारत की ग्रामीण जनता की आर्थिक स्थिति का पहला प्रत्यक्ष दर्शन मातर ताल्लुका में हुआ, साथ

गांधीजी के साथ
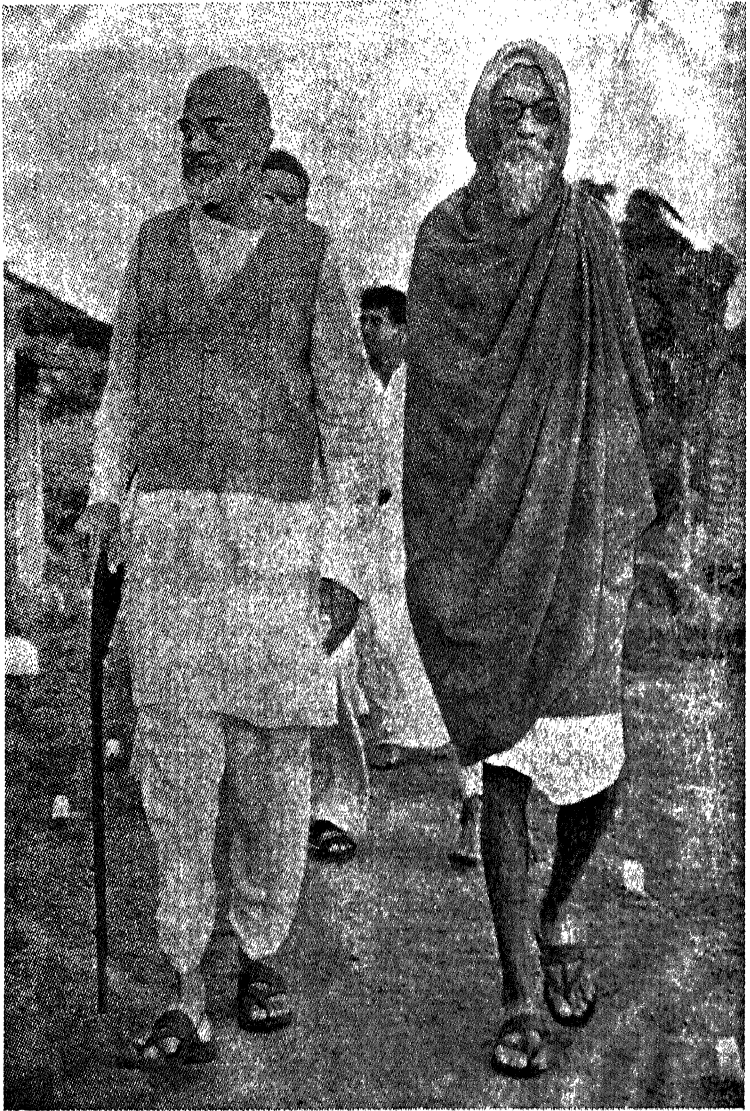
दो मनीषी

ही उन्होंने प्रादेशिक सर्वेक्षण की पद्धति और कार्य में विद्यापीठ के विद्यार्थियों के प्रथम समूह को प्रशिक्षण दिया। पर गुजराती सीखने की बात फिर भी उनसे दूर ही रही।

जब इस सर्वेक्षण का काम चल रहा था, तब गांधीजी ने नमक-सत्याग्रह के पहले कार्यक्रम के रूप में दाण्डी-कूच का कार्यक्रम हाथ में लिया। इन्हीं दिनों 'यंग इण्डिया' में कुमारप्पा का प्रबन्ध, राजस्व और हमारी दरिद्रता (Public Finance and India's Poverty) शीर्षक से क्रमिक रूप से छप रहा था। गांधीजी चाहते थे यह प्रबन्ध पुस्तकाकार प्रकाशित हो जाय। कुमारप्पा इससे सहमत थे। कुमारप्पा इस पुस्तक की भूमिका गांधीजी से लिखवाना चाहते थे। इसके लिए गांधीजी ने उन्हें बुलाया। जैसा कि कुमारप्पा सरीखे हिसाबी व्यक्ति के लिए स्वाभाविक था, वे गांधीजी द्वारा लिखी जानेवाली भूमिका का मसविदा पहले से तैयार करके ले गये, ताकि गांधीजी को असुविधा न हो।

जब चर्चा के दौरान कुमारप्पा ने यह साफ-सुथरी टाइप की हुई भूमिका गांधीजी के सामने रखी, तो वे हँस पड़े और भूमिका को अलग रखकर बोले, "मेरी भूमिका मेरी अपनी लिखी हुई होगी, कुमारप्पा की लिखी हुई नहीं।" फिर विषय बदलकर उन्होंने कहा, "मैंने आपको भूमिका के बजाय इस बात पर चर्चा के लिए बुलाया है कि अब आपको 'यंग इण्डिया' में नियमित रूप से लिखना होगा। ऐसा सोचा है कि मैं गिरफ्तार हो जाऊँ तो महादेव 'यंग इण्डिया' की जिम्मेदारी सँभालें और आप महादेवभाई की मदद करें।" कुमारप्पा ने उत्तर दिया, "मैं न तो गांधी-दर्शन के सम्बन्ध में कुछ जानता हूँ, न 'यंग इण्डिया' और उसकी पुरानी सामग्री तथा परम्परा से परिचित हूँ और न मुझे सम्पादकीय आसन पर बैठना ही आता है। मैं तो पुराने बहीखातों के आडिट को अधिक अच्छी तरह समझता हूँ। आप उस तरह का कोई काम दें तो मैं प्रसन्नतापूर्वक करूँगा। इस लिखने-लिखाने के काम से मुझे कृपया मुक्ति दें।" गांधीजी ने जवाब दिया, "आपमें लिखने की क्षमता है या नहीं, इसका निर्णय तो 'यंग इण्डिया' के

सम्पादक की हैसियत से मुझको करना है, आपको नहीं। इस हैसियत से मैं आपको इस पत्र में लेख लिखने के लिए आमंत्रित करता हूँ। 'यंग इण्डिया' की परिपाटी प्रत्येक लेख के नीचे लेखक का नाम देने की है। अगर आप निम्न कोटि का लेख लिखेंगे, तो लोग यही कहेंगे कि गांधीजी के पत्र में इस प्रकार की सामग्री प्रकाशित होती है। लेकिन अगर आप ऐसी चीज लिखें, जो पत्र के उपयुक्त हो, तो लोग उसका पूरा यश कुमारप्पा को देंगे, जो गांधीजी के पत्र में लेख लिखते हैं।"

कुमारप्पा को यह कथन ठीक लगा और उन्होंने गांधीजी की गिरफ्तारी के बाद लेख भेजते रहने का वादा किया।

पर परिस्थितियाँ ऐसी बनीं कि महादेव देसाई गांधीजी के पहले ही गिरफ्तार हो गये और जब गांधीजी पकड़े गये तो कुमारप्पा को न केवल 'यंग इण्डिया' के लिए लेख ही लिखने पड़े, बल्कि उसके सम्पादक का भार भी उठाना पड़ा। इस प्रकार कुमारप्पा गांधीजी के पास नमाज बख्शाने गये थे और रोज़ा उनके गले पड़ गया।

इसके बाद जब कभी गांधीजी और महादेवभाई जेल के भीतर होते थे और कुमारप्पा बाहर, तो उन्हें 'यंग इण्डिया' का भार सँभालना पड़ता था। बाद में जब गांधीजी और महादेवभाई राउंडटेबल कान्फ्रेन्स के सिलसिले में इंग्लैण्ड गये थे, तब भी 'यंग इण्डिया' की जिम्मेदारी कुमारप्पा पर आयी।

कुमारप्पा सम्पादक के रूप में अत्यन्त प्रखर और तेजस्वी साबित हुए। निर्भीक, कड़ी और सही आलोचना उनकी अपनी विशेषता थी। उन्होंने 'यंग इण्डिया' के सम्पादक के रूप में बिना झिझक और भय के भारतीय स्वाधीनता के युद्ध में अपना योगदान दिया। उनका लिखना बहुत शक्तिशाली और कड़ा होता था तथा उनका प्रहार मूल रूप से इस देश के अंग्रेजी शासन पर रहता था। एक मौके पर कुछ यूरोपियन सार्जेंटों का एक मामला उनकी निगाह में आया और उसके लिए उन्होंने एक कड़ा और जोरदार लेख 'यंग इण्डिया' के लिए तैयार किया। गांधीजी के ही एक दूसरे साथी

ने इस तरह की कड़ी भाषा में लेख लिखे जाने का विरोध किया और उन्होंने भाषा तथा लेखन-पद्धति में थोड़ी नरमी लाने के लिए कहा। पर कुमारप्पा ने कहा, "सचाई के समर्थन द्वारा बुराई को नंगा करने में कोई समझौता या कोई नरमी नहीं हो सकती।" लेख बिना परिवर्तन के प्रकाशित किया गया और उससे काफी हलचल मची। उपर्युक्त साथी कार्यकर्ता ने नाराज होकर इस लेख के संबंध में गांधीजी से शिकायत की। गांधीजी की सूझ-बूझ और समझ गजब की थी। वे हँसे और बोले, "कुमारप्पा मद्रास से आते हैं और मद्रास तो मिर्चों के लिए प्रसिद्ध ही है। मिर्चों में से तीखापन खतम कर देना सम्भव नहीं होता।"

स्वाभाविक ही था कि इस तरह के लेखों के कारण तत्कालीन सरकार 'यंग इण्डिया' से प्रसन्न नहीं रहती।

सरकार को शीघ्र ही मौका भी मिल गया और ३ फरवरी १९३१ को अहमदाबाद के अतिरिक्त जिला मजिस्ट्रेट ने जाब्ता फौजदारी की धारा ११२ के अन्तर्गत एक आदेश भेज दिया, जिसमें लिखा था कि "आपने 'यंग इण्डिया' के विभिन्न अंकों में ऐसे राजद्रोहात्मक लेख लिखे हैं, जिनसे कानून के द्वारा स्थापित सरकार के खिलाफ जनता में घृणा और विद्रोह की भावना फैलती है। इस प्रकार आप जान बूझकर राजद्रोहात्मक सामग्री का वितरण करते हैं। यह भारतीय दंड-विधान की धारा १२४ ए के अन्तर्गत दण्डनीय है।" कुमारप्पा २१ फरवरी १९३१ के दिन अदालत में उपस्थित हुए और उन्होंने अच्छे व्यवहार के लिए न केवल आश्वासन देने से इनकार किया, बल्कि अदालत का अधिकार मानना भी अस्वीकार कर दिया। साथ ही उन्होंने अदालत के सामने एक बयान दिया जो न्याय और सत्य के समर्थन की दृष्टि से बहुत प्रेरणादायी और उत्साहपूर्ण था। उन्होंने उस बयान में कहा :

"भारत-सरकार इंग्लैण्ड की पार्लियामेंट कानून के अन्तर्गत स्थापित हुई है। यह पार्लियामेण्ट अंग्रेज जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है। इसलिए ब्रिटिश सरकार लंदन में ही एक कानूनी संस्था के रूप में

काम कर सकती है, पीकिंग या दिल्ली में नहीं। इन स्थानों पर यह अनिच्छुक लोगों पर अपना शासन लादनेवाली गैर-कानूनी संस्था बन जाती है। भारत की जनता इस सरकारके प्रति उतनी ही वफादार हो सकती है, जितना चन्द्रमा पर रहनेवाला कोई व्यक्ति। जहाँ स्नेह के सूत्र के लिए कोई आधार न हो, वहाँ घृणा फैलाने का आरोप मुझ पर नहीं लगाया जा सकता।

"अब रही अदालत के कार्य-क्षेत्र की बात। चूँकि भारत-सरकार जनता के अधिकारों की भक्षक है और इसके कानून केवल हुक्मनामे या आर्डिनेंस हैं, इसलिए आपके पास जनता की ओर से प्राप्त कोई शक्ति नहीं है और सत्ता तो वास्तव में जनता में ही निहित है। आप केवल कार्यकारी सत्ता के औजार हैं। इसलिए आपका मेरे ऊपर अधिकार नहीं है। और मैं न्यायपालिका के इस कार्य के नाटक में कोई भाग नहीं लूँगा।"

गांधीजी ने जब कुमारप्पा के इस बयान को पढ़ा तो बोले, "इस बयान को पढ़ने के बाद कौन ऐसा आदमी होगा, जो कहे कि कुमारप्पा को जो सजा मिली वह उपयुक्त नहीं थी ?" कुमारप्पा सालभर की कड़ी सजा पर साबरमती जेल भेज दिये गये, पर गांधी-इरविन पैक्ट के बाद शीघ्र ही छोड़ दिये गये।

गांधीजी और महादेवभाई राउण्डटेबल कान्फ्रेन्स के लिए इंग्लैण्ड गये तो कुमारप्पा को 'यंग इण्डिया' के सम्पादक की जिम्मेदारी फिर सँभालनी पड़ी। उनकी लेखनी पहले की तरह ही आग उगलती थी और परिणाम यह हुआ कि उन्हें गिरफ्तार किया गया और फिर मुकदमा चलाकर, इस बार, दो वर्ष की सजा दे दी गयी।

अ० भा० ग्रामोद्योग संघ की स्थापना के बाद कुमारप्पा 'ग्रामोद्योग-पत्रिका' के सम्पादक के रूप में देश के सामने आये। उन्होंने ग्रामोद्योग-पत्रिका में, १९४२ में एक लेख लिखा, जिसका शीर्षक था 'रोटी के बजाय पत्थर'। इसमें उन्होंने मुद्रास्फीति की अंग्रेजी कूटनीति की बहुत कड़ी आलोचना की और जनता का शोषण इस नीति से किस प्रकार होता है, उसका बेरहमी से पर्दाफ़ास किया। कुमारप्पा इस लेख के लिखने के कारण

तीसरी बार गिरफ्तार किये गये और उन्हें तीन विभिन्न अपराधों पर ढाई वर्ष की कड़ी सजा दी गयी। जो लेख और जो वक्तव्य कुमारप्पा ने इन अवसरों पर दिये, वे ऐतिहासिक माने जायेंगे और अहिंसक क्रान्तिके इतिहास में वे सर्वदा उल्लेखनीय रहेंगे। जेल-जीवन की कठिनाइयों ने कुमारप्पा के स्वास्थ्य को हमेशा के लिए खतम करके रख दिया। पर एक निर्भीक सम्पादक के रूप में जो योगदान कुमारप्पा ने दिया, उसे न पत्रकारिता के इतिहास में भुलाया जा सकता है और न क्रान्ति के इतिहास में। ●

चार

पत्थर की दीवारें और लोहे के सींखचे

गांधीजी, राष्ट्रीयता और पत्रकारिता इन तीनों के मेल का अर्थ इस देश में बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में पत्थर की दीवारों और लोहे के सींखचों के अलावा और कुछ नहीं हो सकता था। कुमारप्पा १९२९ में गांधीजी के साथ हुए और १९३० में उन्होंने 'यंग इण्डिया' के सम्पादन का भार लिया। अगले ही वर्ष उन्हें, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, जेल की यात्रा करनी पड़ी। गांधीवादी राष्ट्रीयता की यह पहली सौगात थी। एक साल की कड़ी कैद दी गयी। पर गांधी-इरविन-पैक्ट के अन्तर्गत उन्हें जल्दी ही रिहाई मिल गयी। १९३१ के अन्त में फिर उन्होंने 'यंग इण्डिया' के सम्पादक की जिम्मेदारी सभाली। कुमारप्पा की लेखनी फिर अंग्रेजी शासन द्वारा शोषण के विरुद्ध आग उगलने लगी। १९३२ में वे फिर पकड़े गये और दो साल के लिए लोहे के सींखचों के भीतर बन्द कर दिये गये। तीसरी बार

उन्हें १९४३ में फिर जेल की हवा खानी पड़ी और आश्चर्य की बात है कि इस बार भी लेख पर ही इनकी गिरफ्तारी हुई। पर इस बार वे 'यंग इण्डिया' के सम्पादक नहीं थे, बल्कि 'ग्रामोद्योग-पत्रिका' का सम्पादन करते थे। उस समय दूसरा विश्व-युद्ध पूरी तेजी पर था और एक तरह से परिस्थिति अंग्रेजों के खिलाफ जा रही थी। ऐसे मौके पर अंग्रेजी सरकार की कड़ी आलोचना करना बहुत खतरनाक था और फिर सरकार के वित्तीय कारनामों के बारे में इस प्रकार से लिखना तो आग से खेलने जैसा ही था। कुमारप्पा ने इस मौके पर 'रोटी के बजाय पत्थर' शीर्षक से एक कड़ा लेख लिखा था, जिसमें उन्होंने इंग्लैण्ड के व्यापार-संस्थान और रिजर्व बैंक दोनों पर बहुत तीव्र हमले किये थे। उन्होंने लिखा कि "सरकार मुद्रास्फीति इस सीमा तक कर रही है, जिससे रुपया लगभग बेकार हो जायगा। गाँव के लोग यह रद्दी कागज लेकर मूल्यवान् खाद्यान्न दे रहे हैं। जब तक वर्तमान कीमतें पुरानी कीमतों के मुकाबले में कम-से-कम १२ गुनी न हों, तब तक अपना माल नयी कीमतों में देना स्वयं को बरबाद करना होगा।

"रिजर्व बैंक-कानून के निर्माताओं ने सुविधापूर्वक प्रचलित नोटों के समर्थन में ४० प्रतिशत सोना-चाँदी या स्टर्लिंग सिक्यूरिटी का प्रावधान किया है। इसमें केवल यही शर्त रखी गयी है कि सोना-चाँदी ४० करोड़ से कम नहीं रहेगा। सोना-चाँदी अपने आपमें मूल्यवान् है, जब कि कागजी सिक्यूरिटियाँ केवल ग्रेट ब्रिटेन की साख का प्रतिनिधित्व करती हैं। ४० करोड़ का सोना-चाँदी का प्रावधान करके इन दोनों को समानता के स्थान पर रखना गलत है। इस प्रावधान के अन्तर्गत ४० करोड़ का सोना रखकर बैंक अपने नोटों का प्रचलन कागजी सिक्यूरिटियों के आधार पर किसी भी सीमा तक बढ़ा सकती है।

"इस समय रिजर्व बैंक के पास ३ अरब २५ करोड़ की स्टर्लिंग सिक्यूरिटियाँ हैं। अगर अंग्रेज हिन्दुस्तान से जायँ तो इनको भी यहाँ छोड़ना नहीं चाहेंगे। इसलिए वित्त-सदस्य रेलवे ऋण-पत्रों की भावी अदायगी के सिलसिले में ३ करोड़ की सिक्यूरिटियाँ लन्दन हस्तान्तरित कर रहे हैं।

भारतीय रेलों में अंग्रेज पूँजी लगानेवालों को बचाने के लिए यह भी प्रस्ताव किया गया है कि उन्हें पूरी रकम चुका दी जाय और भारत-सरकार निश्चित तारीख के पहले ही इन रेलों को प्राप्त कर ले। इस तरह जल्दी करके भारत छोड़ने के पहले अंग्रेज भारत की थाली में से बची-खुची खुरचन भी हजम कर जाना चाहते हैं। यह अंग्रेजों की सर्वस्व अपहरण-नीति का शीर्ष-बिन्दु है।"

सचाई को इस तरह की कड़ी और स्पष्ट भाषा में कहना कोई भी सरकार बरदाश्त नहीं कर सकती थी। परिणाम यह हुआ कि कुमारप्पा को, जैसा ऊपर कहा गया है, दो साल की कड़ी सजा दी गयी।

कुमारप्पा के शब्दों में ही, "१५ वर्ष के अल्प सार्वजनिक जीवन में मैंने एक वर्ष की नजरबन्दी और साढ़े छह वर्ष का सपरिश्रम कारावास की सजा पायी है। हम लोगों में से बहुतों को अपने सार्वजनिक जीवन का आधा भाग जेल के सींखचों के भीतर बिताना पड़ा है। मैं अहमदाबाद, साबरमती, नासिक, बम्बई, वर्धा, नागपुर और जबलपुर की जेलों में भिन्न-भिन्न अवधियों तक रहा हूँ।"

कुमारप्पा बुराई को अभिव्यक्त करने में जितने ईमानदार, स्पष्ट और तीखे थे, बुराइयों को दूर करने, उन्हें सुधारने और नयी रचना करने में भी उनकी दृष्टि उतनी ही पैनी तथा उनका दृष्टिकोण उतना ही रचनात्मक था। जेल-जीवन में उन्हें जो यातनाएं, कठिनाइयाँ और असुविधाएं हुई, उनके कारण उनका स्वास्थ्य सदा के लिए टूट गया था। वे अनेक बीमारियों के शिकार हुए तथा ऊँचे रक्तचाप के कारण लगभग मरते-मरते ही बचे। फिर भी उनका दृष्टिकोण जेलों को सुधारने के बारे में ही रहा। जेल-जीवन के संबंध में उन्होंने लिखा है, "जेल की जिन्दगी, समान नहीं होती। उसमें असमानता के सभी पहलू आ जाते हैं। लेकिन उन सबमें सर्वसामान्य बात यह है कि वहाँ आजादी नहीं होती और वातावरण में इतना संदेह भरा होता है कि जिससे आदमी के दिल और दिमाग पर बहुत ही दबाव पड़ता है।

"जेल का भोजन सैद्धान्तिक रूप से संतुलित होता है, वैज्ञानिक दृष्टि से भी वह ठीक हो सकता है, लेकिन मनोवैज्ञानिक तत्त्व उसे जीवन-विज्ञान की दृष्टि से अपर्याप्त बना देता है। इस संबंध में कोई कुछ नहीं कर सकता। इसके लिए कुछ और आवश्यक है और उसको तोले और माशे में नहीं दिया जा सकता है। इसके बिना आदमी सूख जाता है। एक जेल में चिकित्सा के आधार पर मुझे सब-कुछ दिया गया था, फिर भी तथाकथित अपर्याप्त पोषण मुझे रहा और वह इतना बढ़ा कि डॉक्टरों ने मेरे जीने की आशा छोड़ दी। उन्हें भय हुआ कि मेरे हृदय की गति कभी भी बन्द हो सकती है, इसलिए उनकी सिफारिश पर सरकार ने यह मानकर कि मैं मौत के किनारे हूँ, मुझे छोड़ दिया। जेल के बाद डॉक्टरों का मत रहा कि मुझे अपर्याप्त पोषण की नहीं, बल्कि मानसिक बीमारी है। बीमारी क्या थी, यह नहीं कहा जा सकता। लेकिन चाहे कमजोरी कितनी ही रही हो, जेल से छूटने के तीन-चार दिन बाद ही मैं बिस्तर से उठ गया।"

जेल के साथियों की चर्चा करते हुए कुमारप्पा ने लिखा है, "साँप और बिच्छू हमारे साथी रहे। कई बार हमें सपाट धरती पर सोना पड़ता था, इसलिए साँप और मेढक हमारे जीवन-साथी बनने को आ जाया करते थे। जब मैं जेल में आखिरी बार था तो मैंने बिल्ली के तीन बच्चे पाल लिये थे, जिनसे मैं अपना चित्त बहला लेता था।" जेल के काम के बारे में कुमारप्पा का कहना है, "मुझे हमेशा कठिन कारावास का दण्ड मिला है, इसलिए मुझे निवार बुनने, आटा पीसने, साग-भाजी साफ करने, रस्सी बटने, सूत कातने आदि के काम करने पड़े। यह काम अपने-आपमें चाहे मनुष्य को तोड़ देने जैसे सख्त न हों, लेकिन वार्डरों की देख-रेख में काम करना और दिनभर के काम का लेखा-जोखा दूसरे को देना इतना अपमानपूर्ण मालूम होता है कि उसे भुक्तभोगी ही जानता है।" जब कुमारप्पा को आखिरी बार जेल से छोड़ा गया तो उनके साथ जो दुर्घटना हुई, उसका वर्णन उन्होंने बहुत ही रोचक ढंग से किया है, "उस समय मैंने जबलपुर जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट को अपनी मृत्यु हो जाने के बाद दाह-संस्कार तथा अपने

सामान की व्यवस्था के लिए आवश्यक सूचनाएँ बन्द लिफाफे में रखकर सौंप दी थीं। सरकार ने हमारे परिवार के लोगों को तार दे दिया था कि कुमारप्पा की नब्ज कमजोर होती जा रही है। अगर वे मिलना चाहें तो जबलपुर पहुँच जायँ। तुरन्त ही मेरी दो बहनें मद्रास से रवाना हो गयीं। साथ ही रवाना होने से पहले सरकारी तार में प्राप्त सूचना गांधीजी के लिए उन्होंने भेज दी। नागपुर पहुँचते-पहुँचते मेरी सबसे बड़ी बहन की तबीयत खराब हो गयी। वह आगे न बढ़ सकी। मेरी दूसरी बहन बड़ी बहन के लड़के के साथ जबलपुर आयी। वे जबलपुर में किसीको नहीं जानती थीं। केवल इतना मालूम था कि छोटी बहन का मेडिकल कॉलेज का एक पुराना साथी जबलपुर में सेना-विभाग में काम करता है। मेरी बहन और भानजा वहाँ गये और प्रातःकाल डरते-काँपते जल पहुँचे कि मालूम नहीं उन्हें मैं जीवित अवस्था में मिलूँगा या मेरा शव या भस्मी ही उन्हें प्राप्त होगी। मेरी बहन मुझे लेकर अपने मित्र के बँगले पर गयी। जब उस मित्र को मेरी सारी कहानी मालूम हुई तो उसने डरकर मेरी बहन से कहा कि यदि कुमारप्पा उनके घर में रहे, तो उनकी नौकरी चली जायगी। मैंने बहन से पूछा, 'क्या बात है ?' ज्योंही मुझे मालूम हुआ, मैं तुरन्त बिस्तर पर बैठ गया और चलने के लिए तैयार हो गया। मेरी बहन रोकर बोली, 'कुछ तो समझो, आप इस समय कहाँ जायेंगे।' मैंने उत्तर दिया, 'एक बात निश्चित है और वह यह कि मुझे इस घर को तुरन्त छोड़ देना चाहिए। इसके बाद क्या करें, यह पीछे सोच लेंगे।'

"यह चर्चा चल रही थी कि सफेद खादी और गांधी टोपी पहने तीन व्यक्ति घर में आये और उन्होंने पूछा, 'कुमारप्पा घर में हैं क्या ?' उन्हें देखते ही उस फौजी डॉक्टर के होश उड़ गये और वह कहने लगा, 'लीजिये लोग आने लग गये हैं। पुलिस ने मेरी गाड़ी का नम्बर नोट कर लिया होगा। अब कांग्रेसियों का प्रवाह मेरे घर पर शुरू हो जायगा।' मैंने उत्तर दिया, 'आप डरिये मत, मैं अभी रवाना हो रहा हूँ।' ये तीनों भाई स्थानीय खादी-भण्डार के कार्यकर्ता थे और मेरी रिहाई का समाचार सुनकर मिलने आये थे।

"मैं उनमें से दो व्यक्तियों के साथ ताँगे पर रवाना हुआ। ताँगे में और जगह नहीं थी, इसलिए मेरी बहन मेरे साथ न चल सकी। वह आँखों में आँसू भरकर मुझे देखती रही। रास्ते में सलाह हुई कि डॉक्टर जार्ज डिसल्वा को दिखा लिया जाय। इसलिए उनके निवास की तरफ चल पड़े। उनके घर में भी स्थान बहुत थोड़ा था। वे स्वयं भी बरामदे में ही सोया करते थे। उन्होंने मुझे अपने बिस्तर पर लिटाया और मेरा जी बहलाने लगे। इतने में मुझे पूछते-पूछते थियोलाजिकल कॉलेज के कुछ विद्यार्थी वहाँ आ गये और मेरा पता पूछने लगे। जब मैंने उनसे कहा कि मेरा कोई पता है ही नहीं, तब वे मुझे कॉलेज के मेहमान घर में ले गये। वहाँ से उन्होंने सूचना भेजकर मेरी बहन को भी बुलवा लिया। इसके बाद तो मेरे स्वास्थ्य में इतनी जल्दी सुधार हुआ कि सभीको आश्चर्य हुआ और कुछ दिनों बाद मैं वर्धा वापस चला गया।"

अपने जेल के अनुभव के बाद कुमारप्पा ने जेल-जीवन की बुराइयों और उनके सुधार के सम्बन्ध में एक लेख ही लिख डाला, जो 'पत्थर की दीवालें और लोहे के सींखचे' इस शीर्षक से १९४६ में प्रकाशित हुआ।

कुमारप्पा के जेल-जीवन के संबंध में एक प्रसंग बहुत प्रसिद्ध है। १९३३ में वे नासिक रोड के केन्द्रीय कारावास में थे। श्री किशोरलाल-भाई व जोकिम आल्वा भी उनके साथ राजनैतिक कैदी के रूप में पास की कोठरी में थे। जेल-सुपरिण्टेण्डेण्ट ने श्री किशोरलालभाई को जेल के अस्पताल में जाकर गरम पानी से स्नान करने की सुविधा दे रखी थी। इसके लिए उन्हें प्रतिदिन प्रातःकाल अस्पताल के कम्पाउण्ड में जाना पड़ता था। अस्पताल का एक वार्ड राजनैतिक कैदियों के लिए सुरक्षित था। श्री किशोरलालभाई को उसी वार्ड के बाथरूम में स्नान की सुविधा दी गयी थी। कुछ अन्य राजनैतिक कैदी अस्पताल के वार्ड में बीमार थे। श्री किशोरलाल भाई का सहज ही उनसे मिलना हो जाता था। श्री जोकिम आल्वा ने जो कुछ देखा था, उसका वर्णन श्री किशोरलालभाई से किया। वह घटना इस प्रकार थी :

"एक हवलदार ने चाबी का गुच्छा खो दिया। दो अपराधियों पर, जो अस्पताल में धोबी का काम करते थे, चाबियों की चोरी का शक हुआ। हवलदार ने इस चोरी का जिक्र अस्पताल के सहायक डॉक्टरों से किया। डॉक्टरों ने इस प्रश्न को जेलर के सामने रखा। चाबियों की चोरी जेल में गम्भीर अपराध माना जाता है। इसलिए हवलदार और डॉक्टर सभी यह चाहते थे कि अपराधियों को भयंकर सजा दी जाय।" इसके बाद जो घटना घटी, उसके प्रत्यक्षदर्शी श्री आल्वा थे :

"एक लम्बी रस्सी या निवार एक बड़े पेड़ की शाखा से बाँधी गयी। दो हवलदार उन दोनों संदिग्ध धोबियों को पेड़ के पास लाये। दोनों डॉक्टर भी वहाँ मौजूद थे। दोनों अपराधियों की टाँगें बाँध दी गयीं और टाँगों के बल पेड़ की डाली से उल्टा लटका दिया गया। इसके बाद डण्डों से उनकी पिटाई शुरू हुई और उनके शरीर घड़ी के लटकन की तरह इधर-से-उधर झूलने लगे। कुछ मिनटों तक यह सब चला। लेकिन ऐसा लगता है कि धोबियों ने अपना अपराध स्वीकार नहीं किया। बाद में उनको वहाँ से हटाकर अपनी कोठरियों में ले जाया गया। जेलर ने अपना दैनिक दौरा लगाया और सब-कुछ ठीक पाया।"

इस दृश्य का श्री आल्वा पर बहुत प्रभाव पड़ा और रातभर उन्हें नींद नहीं आयी। श्री किशोरलालभाई स्नान के लिए अस्पताल में गये। श्री किशोरलालभाई ने सलाह दी कि श्री आल्वा सुपरिण्टेण्डेण्ट से मिलें और इस घटना से उन्हें अवगत करा दें। श्री आल्वा ने जेल की पद्धति के अनुसार स्लेट पर लिखकर भेजा और सुपरिण्टेण्डेण्ट से साक्षात्कार की माँग की। श्री किशोरलालभाई ने लौटकर इस घटना का वर्णन अपने साथियों से किया और इससे सभी राजनैतिक कैदियों में सनसनी फैल गयी।

जेलर के पास स्लेट पहुँच गयी थी, पर सम्भवतः उसने जान-बूझकर उसे अन्य स्लेटों के नीचे रख दिया और यह बहाना किया कि बहुत नीचे होने के कारण उस स्लेट को नहीं पढ़ सके, पर जेल के अधिकारी इस घटना की गम्भीरता को समझ गये। जेल के डॉक्टर श्री बालासाहब खेर,

श्री मोरारजी देसाई और श्री किशोरलालभाई से मिले और उन्होंने इस मामले को न उठाने तथा जो कुछ इस मामले में प्रायश्चित्त के रूप में किया जा सकता है, करने को सुझाया ।

अब यहाँ पर कई सवाल खड़े हो गये । आल्वा अपनी शिकायत पर दृढ़ रहे । सवाल था कि जो सजा कानून से मिलनेवाली हो वह मिले अथवा व्यक्तिगत प्रयत्नों के द्वारा दोषी लोगों से प्रायश्चित्त करवाकर इस सवाल को आगे न बढ़ाया जाय ।

काफी बातचीत के बाद दूसरा रास्ता मान्य हुआ । तय यह हुआ कि दोनों डॉक्टर, दोनों नियमित हवलदार सब सम्मिलित और व्यक्तिगत रूप से इन दोनों धोबियों से, जिन्हें पीटा गया था, माफी माँग लें और उसके बाद किसी प्रकार की जाँच न करें । यह सुझाव उसी स्थिति में लागू होने को था, जब कि आल्वा को मान्य हो, क्योंकि यह निर्णय उन्हींको करना था कि कौन-सा रास्ता अपनाया जाय । श्री आल्वा इस सुझाव पर इस शर्त के साथ राजी हो गये कि धोबियों को भी उससे समाधान हो जाय । स्वाभाविक रूप से धोबियों को यह व्यवस्था खुली जाँच और छानबीन के मुकाबले में बहुत पसन्द आयी । इसलिए उन लोगों ने यह समझकर कि यह सब ठीक है, सब लोगों ने स्वीकार कर लिया । लेकिन कुमारप्पा और अनेक नौजवान, जिनमें श्री मसानी तथा अन्य लोग शामिल थे, इस व्यवस्था से बहुत नाराज हुए । बुजुर्ग नेताओं ने इस व्यवस्था को स्वीकार किया । पर कुमारप्पा ने कहा कि मैं इस अपवित्र गठबन्धन को बिना चुनौती दिये नहीं मानूँगा ।

सद्भाग्य या दुर्भाग्य से उन्हें तुरन्त मौका भी मिल गया । नासिक के डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट उसी दिन अचानक जेल के निरीक्षण के लिए आये और सुपरिण्टेण्डेण्ट के साथ राजनैतिक वार्ड में भी आये । जैसे ही वे कुमारप्पाजी की कोठरी के पास से निकले, कुमारप्पा ने मजिस्ट्रेट से कहा कि मुझे एक शिकायत करनी है । जिला मजिस्ट्रेट ने सुपरिण्टेण्डेण्ट को उस बात के बारे में नोट कर लेने को कहा और कुमारप्पा को आश्वासन दिया कि वे इस मामले को देख लेंगे ।

स्वाभाविक रूप से श्री खेर, श्री मोरारजी, श्री किशोरलालभाई को इसका दुःख हुआ। तीनों ने उस दिन उपवास रखा। श्री किशोरलालभाई तो रो पड़े। कुमारप्पा भी शायद बहुत प्रसन्न नहीं हुए, पर जो कुछ कदम उन्होंने उठाया, वह उनकी दृष्टि से सही था। उन्होंने अपने कार्य के समर्थन में बाइबिल का एक अंश श्री किशोरलालभाई को दिखाया। श्री किशोरलालभाई ने खलील जिब्रान की एक पुस्तिका का अंश जवाब में प्रस्तुत किया। पर उक्त घटना के समाधान के दो रास्ते, जो श्री किशोरलालभाई व श्री कुमारप्पा ने अपनाये, वे इन पुस्तकों के आधार पर नहीं अपनाये गये। वे बिना किसी स्वार्थ के घटना को देखने के दो दृष्टिकोणों पर आधारित थे। परिणामों की दृष्टि से देखा जाय तो अवश्य ही कुमारप्पा के सीधे और कानूनी कदम का परिचय बहुत वांछनीय नहीं रहा। डॉक्टरों को केवल सावधानी की सूचना दी गयी। कैदी वार्डरों का काम छीन लिया गया और सजा दी गयी। दोनों हवलदारों का दर्जा घटा दिया गया। दोनों धोबियों को ज्यादा सख्त काम पर नहीं लगाया गया और सजा की अवधि को भी घटा दिया गया। पर यह सब जेल के अधिकारियों और जेल की पद्धति के दूषित होने का परिणाम था। इसमें कुमारप्पा का दोष नहीं था। कानूनी दृष्टि से शायद कुमारप्पा सही थे। पर जेल की परिस्थितियों और वास्तविक समाधान की दृष्टि से श्री किशोरलालभाई तथा उनके मित्रों का आकलन सही था। इस घटना से श्री कुमारप्पा के दृष्टिकोण——साहस और न्यायनिष्ठा——का परिचय मिलता है। ●

पाँच

•

बिहार भूकम्प-राहत कमेटी के सलाहकार

१९३४ के जनवरी माह में बिहार में भीषण भूकम्प आया। उस भूकम्प के कारण वहाँ धन-जन की भारी हानि हुई। उन दिनों श्री राजेन्द्र-प्रसाद जेल में थे और बीमार थे। भूकम्प में हुई बरबादी के कारण राहत के काम जनता और सरकार की ओर से तुरन्त चालू किये गये। श्री राजेन्द्र-बाबू की अध्यक्षता में बिहार सेण्ट्रल रिलीफ कमेटी का गठन हुआ। गांधीजी उन दिनों मद्रास प्रान्त में हरिजन-यात्रा में घूम रहे थे। सहायता के लिए अपील निकली; भारत के सभी प्रान्तों से रुपया और सामान पहुँचे। इस कार्य की व्यवस्था के लिए गांधीजी ने श्री जमनालालजी को कोषाध्यक्ष के रूप में भेजा और श्री कुमारप्पा वित्तीय सलाहकार और इंटर्नल आडिटर के रूप में काम करने लगे।

इस महान् संकट के समय सार्वजनिक राहत-कार्य का काम बहुत विस्तृत हो गया था। ३० हजार वर्गमील के घेरे में यह बर्बादी हुई थी और लाखों रुपये नकद तथा लाखों रुपये का सामान सहायता के रूप में आया था। इस सब सामान व रुपये की ठीक तरह से सँभाल, उसका ठीक तरह से उपयोग और ठीक तरह से हिसाब अपने-आपमें बहुत बड़ा और जटिल काम था। श्री कुमारप्पा ने जिस सूझ-बूझ, दृढ़ता और परिश्रम के साथ इस काम को सँभाल लिया, वह बहुत ही प्रशंसनीय था। श्री राजेन्द्रप्रसाद ने अपनी आत्मकथा में लिखा है, "सब बाहर से आये हुए भाइयों और

बहनों के नाम गिनाना मुश्किल है। पर कुछ नाम ऐसे हैं, जिनका उल्लेख न करना अत्यन्त कृतघ्नता होगी। उनमें श्री जे० सी० कुमारप्पा हैं। वह हिसाब-जाँच का काम किया करते थे। विलायत से इसकी शिक्षा प्राप्त कर बम्बई में बड़ी-बड़ी कम्पनियों के हिसाब की जाँच करते थे और गांधीजी के साथ आ जाने पर वह काम छोड़कर गुजरात विद्यापीठ में काम कर रहे थे। जब कांग्रेस ने एक ऐसी कमेटी बनायी, जिसके जिम्मे भारतवर्ष पर लदे हुए कर्ज की जाँच करने का भार दिया तो वह भी उसके सदस्य बनाये गये। महात्मा गांधी ने इनको हिसाब की देखरेख के लिए यहाँ भेज दिया। इतना कहना अनुपयुक्त नहीं है कि यदि वह न आ गये होते और सारे हिसाब का एक अच्छा संगठन न कर दिया होता, तो हम मुश्किल में पड़ते। हमारे काम करनेवालों की संख्या प्रायः २००० से भी अधिक होगी। वे १२ जिलों में बँटे हुए थे। उनमें थोड़े ही ऐसे थे, जो कुछ भी हिसाब जानते हों। काम भी बहुत प्रकार के थे और सबका हिसाब अलग-अलग रखना पड़ता था। यह काम इतना फैला हुआ था कि उसको सँभालना बहुत ही कठिन था। पर इनके बताये तरीके से हिसाब रखने पर सब काम ठीक हुआ।

"मैंने शुरू में ही बिहार बैंक को कमेटी का खजांची बना दिया। रुपये कमेटी के पास और सीधे बैंक के पास आते थे। एक दिन में २००-३०० मनीआर्डर पहुँचते थे। सैकड़ों पार्सल रोज आते थे और उसमें हर तरह की चीजें आती थीं। सबका हिसाब अलग-अलग रखा जाता था। केन्द्रों में पहुँचकर रुपयों अथवा चीजों का खर्च होता तो उसका भी हिसाब केन्द्रीय दफ्तर के निरीक्षण में ही रखा जाता था। कुछ दिनों के बाद जब हमने पहली रिपोर्ट निकाली और उसके साथ में पैसे तथा सामान देनेवालों की नामावली छापी, तो प्रायः ४०० पन्ने की पुस्तक हो गयी। सार्वजनिक काम में रुपये-पैसे के मामले में सफाई निहायत जरूरी है। काम करनेवाले ठीक और उचित तरीके से जनता के दिये रुपये खर्च करें भी और हिसाब ठीक न रखें तो बदनामी हो जाती है। अक्सर बदनामी बेबुनियाद होती है, क्योंकि

खर्च तो ठीक हुआ करता है, पर हिसाब के ज्ञान के अभाव के कारण हिसाब ठीक न रहने से बदनामी हो जाती है। जब आशा से अधिक लोगों में उत्साह दीखा और रुपये बरसने लगे तो मुझे यही चिन्ता थी कि लोगों का विश्वास कहीं झूठा न पड़े। पर ईश्वर की दया से और खासकर कुमारप्पाजी और उनके साथ काम करनेवाले सैकड़ों कार्यकर्ताओं की चतुरता एवं मुस्तैदी से काम भलीभाँति पूरा हो सका। हम कह सकते हैं कि लोगों के दिये हुए रुपये और सामान का अच्छा-से-अच्छा उपयोग हुआ। वास्तव में जैसा सद्व्यय होना चाहिए था, वैसा ही हुआ।"

राहत-काम समाप्त होने के बाद केन्द्रीय असेम्बली (धारासभा) में एक सदस्य ने बहस के दौरान यह आलोचना की कि बिहार सेण्ट्रल रिलीफ कमेटी के काम में श्री राजेन्द्रप्रसाद ने धन का उपयोग ढिलाई से किया है। धारासभा के कांग्रेस दल के नेता श्री भूलाभाई देसाई ने तुरन्त इस सदस्य को अपना आरोप साबित करने के लिए चुनौती दी और धारा-सभा की मेज पर रिलीफ कमेटी के सारे जाँचशुदा हिसाब के छपे हुए कई खण्ड रख दिये। श्री राजेन्द्रप्रसाद ने कुमारप्पा द्वारा किये गये ईमानदारी, लगन और परिश्रमभरे काम की कृतज्ञतापूर्वक सराहना की और बोले, "कुमारप्पा ने दरअसल बिहार की इज्जत बचा ली है।"

बिहार सेण्ट्रल रिलीफ कमेटी के इस विशाल काम के प्रसंग में, जिसमें एक ही वर्ष में ३६ लाख से अधिक की प्राप्ति व उपयोग हुआ, यह प्रसंग स्मरण रखने योग्य है।

जब कुमारप्पा को इस काम के लिए पटना जाने के लिए तार दिया गया था तो वे जेल से छूटे ही थे। वे जेल में बीमार थे। उनके घुटने में तकलीफ थी, यह तकलीफ संभवतः भारतीय पद्धति से जमीन पर पलथी मारकर बैठने की उनकी जिद के कारण हो गयी थी, जिसके वे अभ्यस्त नहीं थे। इसके अतिरिक्त जेलवालों की असावधानी के कारण उनके द्वारा जेल के भण्डार में छोड़े गये खादी के कपड़े भी कीड़ों व चूहों की कृपा से कट गये थे, खराब हो गये थे। जब उन्हें पटना जाने के लिए अचानक

तार मिला, तो नये कपड़े सिलवाने तक के लिए समय नहीं था। वे उन्हीं फटे कपड़ों में पटना पहुँच गये।

जब तक कुमारप्पा पटना पहुँचे, तब तक रिलीफ फण्ड में १९ लाख रुपया इकट्ठा हो गये थे, जो पटना के एक छोटे से बैंक में जमा थे। छोटे बैंकों में इतना रुपया रखना कुमारप्पा की राय में सुरक्षित नहीं था। उनका विचार इम्पीरियल बैंक की पटना शाखा में हिसाब खोलने का था। १९ लाख रुपये का चेक लेकर कुमारप्पा उन्हीं फटे कपड़ों में इम्पीरियल बैंक पहुँचे और उन्होंने बैंक के एजेण्ट से मिलना चाहा।

बैंक का एजेण्ट अंग्रेज था। बैंक के चपरासी को भरोसा ही नहीं हुआ कि यह फटेहाल खद्दरवाला वास्तव में एजेण्ट से मिलने आया है! चपरासी उन्हें एक क्लर्क के पास ले गया। क्लर्क ने पूछा, "तुम यहाँ क्यों आये हो!" कुमारप्पा ने जवाब दिया कि "मैं बैंक में हिसाब खोलना चाहता हूँ।" क्लर्क ने हँसकर कहा, "अरे बाबा, हिसाब खोलने में दो सौ रुपये जमा कराने पड़ते हैं, दो सौ रुपये।" कुमारप्पा ने जवाब दिया, "मैं उसका इन्तजाम कर लूँगा।" क्लर्क ने हार मानकर उनका परिचय-पत्र एजेण्ट के पास भेज दिया।

एजेण्ट ने परिचय-पत्र में पढ़ा कि आगन्तुक लन्दन का एफ० एस० ए० ए० डिग्री प्राप्त व्यक्ति है तो उसने तुरन्त उन्हें अपने आफिस में लाने का आदेश दिया। कुमारप्पा आफिस में दाखिल हुए। एजेण्ट उस समय कुछ लिख रहा था। उसने पुराने फटे कपड़ों में एक आदमी को अन्दर घुसते देखा। एजेण्ट लिखता रहा, कुमारप्पा को यह कैसे बरदाश्त होता। उन्होंने कहा, "मैंने अपना कार्ड आपको भेजा है।" एजेण्ट ने कुमारप्पा की तरफ देखा और उत्तर दिया, "मुझे तुम्हारा परिचय-पत्र नहीं मिला।" कुमारप्पा ने सामने पड़े परिचय-पत्र की ओर इशारा करके बतलाया कि यह उन्हीं-का है।

एजेण्ट हक्का-बक्का हो गया। उसने यह सपने में भी नहीं सोचा था कि विलायत का एक एफ० एस० ए० ए० पास इस तरह के कटे-फटे

कपड़ों में मिलने आ सकता है। उसने तुरन्त उठकर कुमारप्पा से हाथ मिलाया और कुर्सी दी। कुमारप्पा ने उसे १९ लाख का चेक दिया और रिलीफ कमेटी का हिसाब खोलने के लिए कहा। बाद में विस्तारपूर्वक चर्चा हुई। अन्त में एजेण्ट कुमारप्पा को सवारी तक बिदा करने आया। निश्चय ही उस समय इस भिखारी के प्रति एजेण्ट द्वारा दिखाये गये शिष्टाचार पर लोगों को अचम्भा ही हुआ होगा।

कुमारप्पा ने राहत-कार्य में लगे हुए सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के प्रवास, भोजन आदि संबंधी नियम बनाये। कुमारप्पा उन नियमों को सब पर समान कड़ाई के साथ लागू करना चाहते थे। एक नियम यह था कि प्रतिव्यक्ति प्रतिदिन का भोजन-व्यय अधिकतम ३ आना रहेगा। भोजनालयों की व्यवस्था इसी मर्यादा में की जाती थी। कुमारप्पा स्वयं भी उसी भोजनालय में भोजन करते थे। मोटरों तथा पेट्रोल आदि के उपयोग में भी इसी प्रकार के निश्चित व कड़े नियम बने हुए थे। एक बार गांधीजी पटना आये। उनके साथवालों को दूध-फल, साग-सब्जी आदि आवश्यक था और वह सब तीन आने की मर्यादा में नहीं आ पाता था। कुमारप्पा ने श्री महादेवभाई को समझा दिया कि गांधीजी के दल पर होनेवाला अतिरिक्त व्यय रिलीफ फण्ड में से अदा किया जाना कठिन है। उन्होंने यह भी कह दिया कि गांधीजी के दल के लिए वे पेट्रोल की व्यवस्था स्वतन्त्र रूप से कर लें तो ठीक रहेगा। मामला गांधीजी के कानों तक पहुँचा। गांधीजी ने कुमारप्पा को बुलाया और कहा, "मैं अब की बार केवल रिलीफ कमेटी के काम से ही पटना आया हूँ। ऐसी स्थिति में आप हमारे खर्च को मान्य करने से क्यों इनकार करते हैं?" कुमारप्पा बोले, "सार्वजनिक सहायता से प्राप्त धन के व्यय में मैंने सबके लिए कुछ नियम रखे हैं।" गांधीजी तुरंत कुमारप्पा की बात समझ गये और प्रसन्नतापूर्वक मान गये।

एक दिन रात को कुमारप्पा ने नकद रुपया सँभाला, रुपया कुछ कम निकला। पूछताछ के बाद बहुत झिझक के साथ एक अधिकारी ने कहा, "रिलीफ फंड के एक ट्रस्टी के आदेश से भूखपीड़ितों को कुछ रुपया अग्रिम

दिया गया है।" पर इस संबंध का न कोई वाऊचर था और न कोई लिखित आदेश। कुमारप्पा ने तुरन्त श्री राजेन्द्रप्रसाद से कहा, "आप उक्त ट्रस्टी महाशय से इस रकम की तुरन्त अदायगी के लिए कहिये और उनका नाम ट्रस्टी सूची में से काट दीजिये।"

राजेन्द्रप्रसाद का विचार था कि ऐसा करना उचित नहीं होगा। यह कदम बहुत सख्त रहेगा। लेकिन कुमारप्पा टस-से-मस नहीं हुए। आखिर राजेन्द्रबाबू ने गांधीजी को तार भेजकर उनसे सलाह माँगी। गांधीजी ने तुरन्त तार से जवाब दिया, "कुमारप्पा जैसा कहते हैं वैसा करिये।" वैसा ही किया गया और उससे रिलीफ कमेटी के काम में बहुत सुधार हुआ।

एक दूसरा प्रसंग इस प्रकार है। गांधीजी ने कुमारप्पा को तार दिया, "मैं आपसे मिलने के लिए पटना आ रहा हूँ।" गांधीजी रात को १० बजे पटना पहुँचे और उन्होंने कुमारप्पा को सूचित करने के लिए राजेन्द्र-बाबू से कहा।

राजेन्द्रबाबू ने उत्तर दिया, "रिलीफ कमेटी के वार्षिक हिसाब में कुछ आनों का फरक आ रहा है। आडिटर वह फर्क निकाल नहीं पाये हैं। कल वार्षिक सभा है, इसलिए कुमारप्पा ने दो नौजवान हिसाबियों के साथ स्वयं को एक कमरे में बन्द कर लिया है और जब तक उस भूल का पता न लगे, तब तक उन्होंने सारी रात काम करने का निश्चय किया है। जब कुमारप्पा इस तरह काम करते हैं, तब उनका मिजाज शेर की तरह रहता है और किसकी मजाल है, जो उनके काम में दखल दे।" गांधीजी बोले, "अच्छी बात है अभी उन्हें रहने दीजिये, मैं सुबह बात कर लूँगा।"

प्रातःकाल जब कुमारप्पा स्नान आदि से निवृत्त हो रहे थे तो गांधीजी उनसे मिले और बातचीत करने का समय निश्चित करने लगे। कुमारप्पा ने उत्तर दिया, "आज तो संभव नहीं है। कल शायद सम्भव हो सके।" गांधीजी कहने लगे, "पर मैं तो आज रात को ही वर्धा जा रहा हूँ।" कुमारप्पा ने उत्तर दिया, "तब तो मामला बहुत आसान है, आप मुझसे बिना मिले ही चले जाइये।" गांधीजी ने कहा, "मैं तो बनारस से चलकर

आपसे मिलने के लिए आया और आप समय नहीं दे रहे हैं ?" कुमारप्पा का उत्तर था, "लेकिन आपने तो मुझसे समय का निश्चय पहले से नहीं किया था। अगर मुझे समय होता तो आपसे मिलने के लिए टिम्बकटू तक चलकर पहुँचता, लेकिन आज तो मैं रिलीफ कमेटी की वार्षिक बैठक के सिलसिले में बहुत ही ज्यादा व्यस्त हूँ।" गांधीजी को मानना पड़ा और उन्होंने श्री महादेवभाई को सूचना दी कि कुछ आवश्यक कागजात कुमारप्पा को देखने के लिए छोड़ दिये जायँ। गांधीजी ने कुमारप्पा से कहा, "हरिजन संबंधी उपवास के बाद मैं आपको तार भेजूँगा।" १५ दिन के बाद कुमारप्पा उस मामले में गांधीजी से मिलने वर्धा गये। ●

छह

●

सर्वेक्षण अध्ययन, और आयोजन

कुमारप्पा का झुकाव बचपन से इञ्जीनियरिंग की ओर था, लेकिन घटना-चक्र ने उन्हें हिसाब-किताब और लेखाकार के प्रशिक्षण और व्यवसाय की ओर मोड़ दिया। जब वे अपने बड़े भाई के निमन्त्रण पर छुट्टी मनाने के लिए अमेरिका की यात्रा पर गये, तो उनका झुकाव सार्वजनिक वित्त की ओर हुआ। उन्होंने डॉ० एच० जे० डेवनपोर्ट द्वारा संचालित 'साहस का अर्थशास्त्र' से संबंधित एक सेमिनार में भाग लिया। डॉ० डेवनपोर्ट का विचार था कि व्यक्ति मुनाफे के अलावा और किसी विचार को स्थान नहीं दे सकता। वे 'सेमिनार के विषय' शीर्षक पुस्तक के स्वयं लेखक थे और वही पुस्तक सेमिनार की पाठ्य-पुस्तक थी। उनका

खयाल था कि उत्पादन का लक्ष्य केवल कार्य-शक्ति को बढ़ाना ही है। उसमें नैतिक या सामाजिक विचार को कोई स्थान नहीं है। कुमारप्पा को यह दृष्टिकोण बिलकुल गलत लगा और उन्होंने उसका विरोध किया। यहीं से कुमारप्पा का झुकाव इस ओर हुआ कि आधुनिक पश्चिमी अर्थ-शास्त्रीय धारणा के विपरीत मनुष्य केवल संपत्ति उपार्जित करनेवाला साधन नहीं है, अपितु वह समाज का एक ऐसा सदस्य है, जिसकी अपनी राजनैतिक, सामाजिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक जिम्मेदारियाँ हैं। इस प्रकार वे अर्थशास्त्र में नैतिक और सामाजिक तत्त्वों का उपयोग प्रमुख तथा महत्त्वपूर्ण मानने लगे। अर्थशास्त्र के इस निश्चित दृष्टिकोण के साथ वे गांधीजी के समर्थक थे। उन्होंने आगे चलकर आर्थिक जाँच, सर्वेक्षण, अध्ययन तथा आयोजन में इसी नीति को अपनाया। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि उन्होंने पहला अध्ययन-प्रबन्ध 'राजस्व और हमारी दरिद्रता' लिखा था, जिसे उन्होंने गांधीजी को भेजा था। इसी प्रबंध को लेकर गांधीजी के पास वे आये थे और यह प्रबन्ध क्रमिक रूप में 'यंग इण्डिया' में छपा था। गांधीजी की टोली में शामिल होने के बाद गुजरात विद्यापीठ में अर्थशास्त्र के प्राध्यापक के रूप में १९३० में उन्होंने मातर तालुका का अध्ययन किया। इसमें विद्यापीठ के दो प्राध्यापक और नौ विद्यार्थी सहायक के रूप में रहे। कुमारप्पा यह जानते थे कि मातर तालुका के लोग अंग्रेजी नहीं जानते हैं, फिर भी उन्होंने सर्वेक्षण का काम बहुत योग्यता से चलाया। इस सर्वेक्षण से अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य प्राप्त हुए।

इस रिपोर्ट को उन्होंने जनता के सामने रखा। उस जमाने में प्रति-व्यक्ति आमदनी बहुत ही कम थी। फिर भी सरकार उन पर कर लगाती थी। इस क्षेत्र के लोग कठिन परिश्रम करनेवाले थे। इस क्षेत्र में सिंचाई की कोई व्यवस्था नहीं थी। गाँववालों ने तालाबों का निर्माण किया था, वे भी सूखे रह जाते थे। इसके बाद मद्रास-क्षेत्र में एक नमूने का अध्ययन किया। इसके बारे में उन्होंने कहा है, "उक्त विवरण अपने-आपमें बहुत

सावधानी से प्राप्त किया गया है और पढ़ने में रुचिकर है। इसमें जनता के शोषण तथा तात्कालिक परिस्थितियों की जानकारी दी गयी है।"

१९३१ में कराची के कांग्रेस-अधिवेशन में श्री कुमारप्पा के संयोजन में एक उपसमिति का गठन किया गया, जो इंग्लैंड और भारत के वित्तीय संबंध का विस्तार से अध्ययन करे। कुमारप्पा के लिए यह बहुत कठिन काम नहीं था। उन्होंने दो मास में यह रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी। समिति के सदस्यों में श्री डी० एन० बहादुर, श्री भूलाभाई देसाई और प्रो० के० टी० शाह जैसे योग्य एवं प्रसिद्ध व्यक्ति थे। समिति ने दो खण्डों में इस रिपोर्ट को तैयार किया और कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष श्री सरदार वल्लभभाई पटेल के सामने प्रस्तुत कर दिया।

१९३९ में एक अन्य सर्वेक्षण उन्होंने किया। यह सर्वेक्षण गाँवों की समस्या को लेकर था। सर्वेक्षण के काम में लगभग २० विद्यार्थी और एक अध्यापक की टोली काम करती थी। दिन में सर्वेक्षण का काम चलता था और रात में प्रचार करते थे। कम-से-कम समय और कम-से-कम व्यय में यह महत्त्वपूर्ण अध्ययन किया गया। यह रिपोर्ट चार खण्डों में थी। सर्वेक्षण की कुल लागत ३ हजार अर्थात् एक गाँव के सर्वेक्षण में औसतन् १५ रु० खर्च हुआ। इस रिपोर्ट के संबंध में गांधीजी ने 'हरिजन' में 'एक मौलिक रिपोर्ट' शीर्षक से ६ लेख प्रकाशित किये।

इसके बाद कुमारप्पा ने इसी प्रकार का सर्वेक्षण उत्तर-पश्चिम सीमा-प्रान्त का किया। इस रिपोर्ट का वहाँ की प्रान्तीय सरकार और जनता ने बहुत स्वागत किया।

१९४८ के फरवरी मास में कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष श्री राजेन्द्र-प्रसाद ने एक कृषि-सुधार समिति की नियुक्ति की, जिसके अध्यक्ष श्री कुमारप्पा थे। इस समिति की कार्य-मर्यादा इस प्रकार थी :

यह समिति जमींदारी-उन्मूलन के परिणामस्वरूप आवश्यक कृषि-सुधारों के संबंध में विभिन्न प्रान्तों की परिस्थितियों के अनुसार विचार करके सिफारिश करेगी। यह समिति सहकारी खेती, खेती की उपज में सुधार,

छोटे जोतों की परिस्थिति, उपकाश्तकार (Subtenant), भूमिहीन मजदूरों और सामान्य स्थिति के खेतिहर जनता की स्थिति को सुधारने के उपायों पर विचार करेगी और अपनी रिपोर्ट देगी। इस समिति ने भारत के विभिन्न प्रान्तों का दौरा किया, वहाँ की परिस्थितियों का अध्ययन किया और जुलाई १९४८ तक अपनी रिपोर्ट तैयार कर दी। यह रिपोर्ट अ० भा० कांग्रेस महासमिति द्वारा प्रकाशित की जा चुकी है।

इस रिपोर्ट के क्रान्तिकारी सुझावों की स्वाभाविक रूप से पूँजीवादी समाचार-पत्रों द्वारा कड़ी आलोचना की गयी। वास्तव में उस समिति के सुझाव इतने दूरगामी और परिवर्तनकारी थे कि कांग्रेस संस्था, केन्द्रीय सरकार और प्रान्तीय सरकारों, किसीकी भी हिम्मत उन्हें कार्यरूप में परिणत करने की नहीं हुई। फिर भी इसमें शक नहीं कि भारत की कृषि और भूमि-संबंधी स्थिति और देश की गरीब खेतिहर जनता की वास्तविक समृद्धि तथा भूमि-समस्या के निराकरण की दृष्टि से यही रिपोर्ट इस देश के कृषि तथा भूमि-संबंधी इतिहास में एक दिन प्रमुख स्थान प्राप्त करेगी।

१९३० से लेकर १९४८ तक के समय में कुमारप्पा ने इस देश की आर्थिक परिस्थितियों से संबंधित चार सर्वेक्षण किये तथा रिपोर्टें तैयार कीं। उसके साथ ही उक्त परिस्थितियों के सुधार के लिए योजनाएँ प्रस्तुत कीं।

सर्वेक्षण के साथ-साथ यह स्वाभाविक था कि देश के लिए योजनाओं के निर्माण में भी कुमारप्पा जैसे हिसाबी, प्रमुख तथा समर्थ अर्थशास्त्री का सहयोग माँगा जाता और दिया जाता। १९३७ में जब तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष श्री सुभाषचन्द्र बोस ने श्री जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में राष्ट्रीय योजना कमेटी का गठन किया, तब कुमारप्पा भी उस कमेटी में थे। लेकिन उस कमेटी में व्यवहारकुशल उद्योगपति, आदर्शवादी अर्थशास्त्री, प्रयोग-कुशल वैज्ञानिक, राजनीतिज्ञ और बड़े व्यवसायी भी शामिल थे। कुमारप्पा को लगता था कि इस प्रकार की खिचड़ी कमेटी में जाना और अन्तहीन बहस करते रहना समय को बर्बाद करना ही होगा। इसलिए आरम्भ में ही उन्होंने उसमें शामिल होने से इनकार कर दिया।

पर गांधीजी के आग्रह पर वे उसमें शामिल हो गये। स्थिति वैसी ही बनी, जैसा कुमारप्पा ने सोचा था। तीन महीने की लम्बी-चौड़ी बहस के बाद कमेटी इस बिन्दु पर आ गयी कि हमारे देश में नौसेना में कितने लड़ाकू विमान आदि होने चाहिए। कुमारप्पा ने गांधीजी को लिखा, "हमारी आत्माएँ भी हमारी अपनी नहीं रहीं, तब हम-जैसे गुलामों के द्वारा इन मामलों पर बहस करने का क्या अर्थ है?" गांधीजी ने भी कहा, "इस बड़ी बहस को सुनते रहने के बजाय वहाँ से खिसककर आ जाना ही ठीक है।" कुमारप्पा ने योजना-समिति से त्याग-पत्र दे दिया।

सात

अखिल भारत ग्रामोद्योग-संघ और ग्राम-आन्दोलन

श्री जमनालाल बजाज के प्रयास से गांधीजी वर्धा आये और पहले-पहल वर्धा शहर के मध्य में बजाज-बगीचे में उन्हें ठहराया गया। वह नाम मात्र का ही बगीचा था। उसमें एक छोटी-सी इमारत थी और चारों तरफ खेत थे। गांधीजी यहाँ लगभग चार वर्ष ठहरे। कुमारप्पा जेल से लौटकर १९३१ में वर्धा आये और गांधीजी, कस्तूरबा, महादेवभाई आदि के साथ उसी इमारत में रहे। गांधीजी तथा कुमारप्पा में खादी-ग्रामोद्योगों के संबंध में चर्चा होती रहती थी। गांधीजी का ध्यान खादी की ओर केन्द्रित था। कुमारप्पा ने ग्रामोद्योग की ओर गांधीजी का ध्यान खींचा। गांधीजी ने ग्रामो-

द्योगों के पुनर्जीवन और विकास के लिए गुरुदेव रवीन्द्रनाथ का आशीर्वाद माँगा। इसके लिए ग्रामोद्योगों पर एक नोट भी कुमारप्पा ने तैयार किया।

कुमारप्पा लगभग २५ वर्ष तक इसी स्थान पर रहे, जिसे १९३४ में मगनवाड़ी का नाम दिया गया।

इस देश की अर्थनीति में खादी-ग्रामोद्योग का विचार स्वदेशी के माध्यम से आरम्भ हुआ। वर्तमान शताब्दी के आरंभ में ही, और विशेष कर वंग-भंग के बाद, स्वदेशी का विचार इस देश में प्रबल हुआ। पर आरम्भ में स्वदेशी का अर्थ विदेशों और खासकर इंग्लैंड के बने माल के बजाय भारत में बने माल का उपयोग करना मात्र ही था। गांधीजी ने राजनैतिक और वास्तविक स्वदेशी में अन्तर किया। उन्होंने गाँव के कारीगरों के द्वारा गाँव में बनी हुई वस्तुओं को सच्ची स्वदेशी की मर्यादा में माना। अखिल भारतीय स्वदेशी लीग ने भी, जिसके अध्यक्ष श्री मदनमोहन मालवीय थे, और मंत्री श्रीमती लीलावती मुन्शी थीं, माना कि स्वदेशी का अर्थ छोटे उद्योगों के जरिये देश के अन्दर उपयोगी वस्तुओं का निर्माण करना है। वे छोटे उद्योग ऐसे होंगे, जिनके समर्थन के लिए लोक-शिक्षण की आवश्यकता हो और जो कीमतों के नियन्त्रण और अपने नीचे काम करनेवाले मजदूरों को मिलनेवाली मजदूरी तथा कल्याण के लिए अखिल भारत स्वदेशी लीग का मार्ग-दर्शन मानने को तैयार हों। स्वदेशी अपने दायरे में से ऐसी चीजों को बाहर रखेगी, जो बड़े और संगठित उद्योगों के मार्फत तैयार हुई हों, जिन्हें लीग की सेवाओं की आवश्यकता नहीं है और जो सरकार की सहायता प्राप्त कर सकते हैं या करते हैं। मालवीयजी ने नये-पुराने दृष्टिकोण को देश के सामने रखने की दृष्टि से स्वदेशी के संबंध में एक सम्मेलन बुलाया। पर कौन-सा दृष्टिकोण सही दृष्टिकोण है, यह पंच-फैसले पर छोड़ा गया। मालवीयजी और गांधीजी, दोनों ने मिलकर कुमारप्पा को पंच नियुक्त किया। कुमारप्पा ने इन सारे प्रश्नों की पूरी छानबीन की और अपना फैसला गांधीजी के पक्ष में दिया। फिर भी अनेक नेताओं को गांधीजी की परिभाषा मान्य नहीं हुई।

इसके साथ ही जब गांधीजी हरिजनों के उत्थान के सिलसिले में देश-भर में दौरा कर रहे थे, तो उन्हें यह भी लगने लगा कि देश के आर्थिक पुनर्जीवन की दृष्टि से केवल खादी का विकास और आन्दोलन पर्याप्त नहीं होगा, उसमें ग्रामोद्योगों के विस्तार और विकास को भी जोड़ना होगा। यह सारा कार्य किस प्रकार संगठित किया जाय और कौन इस सारे कार्य-क्रम को चलाये, यह प्रश्न-चिह्न के रूप में उनके सामने आया। इस संबंध की चर्चा में स्वदेशी लीग की मंत्री श्रीमती लीलावती मुंशी ने कुमारप्पा का नाम सुझाया। यह बात गांधीजी को पूरी तरह जँच गयी।

इसके पश्चात् १९३४ में अखिल भारतीय कांग्रेस ने बम्बई के अधि-वेशन में उस मामले पर विचार किया और २६ अक्तूबर को निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत किया :

"चूँकि जनता में स्वदेशी के वास्तविक स्वरूप के बारे में बहुत भ्रान्ति पैदा हो गयी है और चूँकि कांग्रेस का लक्ष्य आरम्भ से ही आम जनता के साथ उत्तरोत्तर एकरस होते जाना है और ग्राम-पुनर्गठन और पुनर्निर्माण का आशय आवश्यक रूप से मृत अथवा मृतप्राय ग्रामोद्योगों को पुनर्जीवित और प्रोत्साहित करने का है, जिनमें कताई के मुख्य उद्योग के अतिरिक्त अन्य बहुत-से उद्योग शामिल हैं, और चूँकि हाथ-कताई के पुनस्संगठन की भाँति यह काम भी कांग्रेस की राजनैतिक प्रवृत्तियों से स्वतन्त्र और अप्रभावित रहकर केन्द्रीभूत विशेष प्रयत्नों से ही किया जा सकता है, इसलिए श्री जे० सी० कुमारप्पा को गांधीजी की सलाह और मार्गदर्शन में ग्रामोद्योगसंघ नामक एक संस्था का निर्माण करने का अधिकार दिया जाता है।

"यह संघ उपर्युक्त उद्योगों के पुनर्जीवन और विकास के लिए तथा गाँव की नैतिक और भौतिक उन्नति के लिए काम करेगा, तथा इसे अपना विधान बनाने, रुपया इकट्ठा करने और ऐसे सब कार्य करने का अधिकार होगा, जो इसके उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक है।"

संस्था के विधान के अनुसार इस संगठन के निम्नलिखित कार्य रखे गये :

"अपने उद्देश्य की समुचित पूर्ति के लिए यह संस्था धन एकत्र करेगी, शोध-कार्य करेगी, साहित्य का प्रकाशन करेगी, प्रचार-कार्य करेगी, एजेंसियों की स्थापना करेगी, ग्रामीण औजारों के संशोधन के लिए तरीके निकालेगी और अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो कुछ आवश्यक होगा, सब कुछ करेगी, और इसी दृष्टि से अपनी सारी सम्पत्ति, आमदनी और मुनाफे का, अगर कुछ हो तो, सदा इसीके लिए उपयोग करेगी।"

संविधान में यह भी स्पष्ट उल्लेख कर दिया गया था कि यह संघ गांधीजी के मार्ग-दर्शन और सलाह के अनुसार काम करेगा।

निम्नलिखित ६ व्यक्ति स्थायी ट्रस्टी-मण्डल के रूप में स्वीकार किये गये :

१. श्री जमनालाल बजाज, ४. श्री डॉ० खान साहब,
२. श्री गोपीचन्द भार्गव, ५. श्री जे० सी० कुमारप्पा,
३. श्री श्रीकृष्णदास जाजू, ६. श्री वैकुंठ ल० मेहता।

आरम्भिक व्यवस्थापक-मण्डल में निम्नलिखित सदस्य थे :

१. श्री लक्ष्मीदास आशर, ५. श्री प्रफुल्लचन्द्र घोष,
२. श्री शंकरलाल बैंकर, ६. श्री जे० सी० कुमारप्पा,
३. श्रीमती गोशीबहन कैप्टन, ७. श्री डॉ० खान साहब,
४. श्री श्रीकृष्णदास जाजू, ८. श्री सूर्यवल्लभदास।

एक सलाहकार मण्डल की व्यवस्था भी संघ के संविधान में थी, जिसके १८ सदस्य थे। इनमें : श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर, श्री जे० सी० बोस, श्री पी० सी० राय, श्री सी० वी० रमण, श्री जमाल मुहम्मद, श्री जी० डी० बिरला, श्री साम हिगिन बाटम्स, श्री एम० ए० अंसारी, श्री राबर्ट मेककोरिसन प्रमुख थे।

आरम्भ में श्री श्रीकृष्णदास जाजू संघ के अध्यक्ष थे और श्री कुमारप्पा मंत्री—संगठक। लेकिन कुछ समय बाद ही श्री जाजू और कुमारप्पा में संगठन और प्रवृत्तियों के मामलों में मतभेद पैदा हो गये। श्री जाजू अध्यक्ष की हैसियत से अपने दृष्टिकोण और निर्णय को प्रमुखता देना चाहते थे।

श्री कुमारप्पा का मानना था कि श्री जाजू व्यवस्थापक-मण्डल के सभापति के रूप में काम करें और संघ के संचालन, कामकाज और पूर्तियों की सारी जिम्मेदारी उनकी रहनी चाहिए। यह मामला गांधीजी के पास पहुँचा। गांधीजी ने दोनों को समझा-बुझाकर चलाने का प्रयत्न किया, लेकिन वह प्रयत्न सफल नहीं हुआ। श्री जाजू का दृष्टिकोण वित्त-प्रधान था और श्री कुमारप्पा का विकास-प्रधान। अन्त में गांधीजी को यह कहना पड़ा कि ग्रामोद्योग-संघ का निर्माण कांग्रेस के प्रस्ताव के अनुसार हुआ है, जिसमें कुमारप्पा को संघ के निर्माण का अधिकार दिया गया है; अतः कुमारप्पा के दृष्टिकोण को ही प्रमुखता देना उचित होगा। परिणाम यह हुआ कि संघ के व्यवस्थापक-मंडल का पुनर्गठन हुआ और उसके अनुसार स्वयं गांधीजी संघ के अध्यक्ष बने तथा कुमारप्पा पूर्ववत् मंत्री और संगठक रहे। इस अवसर पर व्यवस्थापक-मण्डल में परिवर्तन होकर नया मंडल इस प्रकार बना :

१. महात्मा गांधी, अध्यक्ष,	७. श्री श्रीकृष्णदास जाजू,
२. श्री लक्ष्मीदास आशर,	८. श्री भारतन कुमारप्पा,
३. श्री शंकरलाल बैंकर,	९. श्री धीरेन्द्र मजूमदार,
४. श्रीमती गोशीबहन कैप्टन,	१०. श्री वैकुंठ ल० मेहता,
५. श्री जयरामदास दौलतराम,	११. श्री सूर्यवल्लभदास,
६. श्री प्रफुल्लचन्द्र घोष,	१२. श्री जे० सी० कुमारप्पा, मंत्री।

कुमारप्पा इस नयी संस्था के संगठन-मंत्री बनाये गये। इस संबंध में एक रोचक प्रसंग है। इस नयी संस्था के संगठक के रूप में काम करने के लिए कुमारप्पा की सहमति गांधीजी ने नहीं ली थी। कुमारप्पा उस समय रिलीफ-कमेटी के कार्य के कारण पटना में थे। उन्होंने जब दैनिक पत्रों में यह समाचार पढ़ा, तो वे स्वाभाविक रूप से नाराज हुए और पत्र लिखकर गांधीजी से पूछा, "यह आपने क्या किया ?" गांधीजी ने लिखा, "मैं मानता हूँ कि उस मामले में आपसे सहमति न लेकर मैंने गलती की है, लेकिन अब क्या हो, जो होना था वह हो चुका है। अब आप औपचारिकताओं की गलती को भूलकर कार्य आरम्भ कर दीजिये।"

बाद में जब कुमारप्पा गांधीजी से मिले, तो कुमारप्पा ने उनसे पूछा, "इस काम के लिए रुपया कहाँ से आयेगा और कार्यकर्ता कहाँ से जुटेंगे ?" गांधीजी खिलखिलाकर हँस पड़े, "रुपये की आप चिन्ता मत कीजिये, जितना आवश्यक होगा, प्राप्त हो जायगा। रही कार्यकर्ताओं की बात, सो (कुमारप्पा की तरफ इशारा करते हुए उन्होंने कहा) एक कार्यकर्ता तो हैं ही, उन्हींसे शुरुआत कर दीजिये।" बस, वर्धा के महिला-आश्रम के ऊपर-वाले कमरे में अखिल भारत ग्रामोद्योग-संघ का निर्माण और प्रारम्भ हो गया।

इस संघ का कार्यालय गांधीजी और कुमारप्पा के साथ श्री जमनालाल बजाज के बगीचे में आ गया और फिर मगनवाड़ी ही संघ की प्रवृत्तियों और कार्यों का केन्द्र बन गया। मगनवाड़ी के प्रारम्भ और विस्तार की चर्चा अलग से की गयी है। प्रारम्भ से ही संघ को गांधीजी का पूरा मार्गदर्शन, समर्थन और सहयोग मिला और कुमारप्पा उसमें पूरी शक्ति के साथ जुट गये। इन दिनों गांधीजी बराबर 'हरिजन' में ग्रामोद्योगों के बारे में लिखते थे और कुमारप्पा मगनवाड़ी में ग्रामोद्योगों की प्रवृत्तियों की स्थापना और उनके शोध, विस्तार और प्रशिक्षण के कार्य को संगठित करने के साथ-साथ ग्रामोद्योगों के दर्शन तथा अर्थशास्त्र के विकास तथा देशभर में उनके प्रचार और विस्तार में डूबे हुए थे।

१९३५ में 'ग्राम-आन्दोलन का दर्शन' इस शीर्षक से एक पुस्तिका का प्रकाशन हुआ, जिसकी भूमिका श्री राजेन्द्रप्रसाद ने लिखी थी। इसमें कुमारप्पा ने विस्तार के साथ अहिंसक अर्थव्यवस्था तथा ग्रामोद्योगों के विकास और विस्तार की आवश्यकता और उसके जीवन-दर्शन का चित्र प्रस्तुत किया है। इस प्रकार खादी और हरिजन-सेवा आन्दोलन की भाँति ही ग्रामोद्योग-संबंधी आन्दोलन भी भारत के स्वाधीनता-संग्राम और कांग्रेस-संगठन के अन्तर्गत उत्पन्न हुआ और गांधीजी की छत्रछाया तथा सक्रिय मार्गदर्शन में विकसित हुआ। जब १९३७ में प्रथम कांग्रेसी मंत्रिमण्डल विभिन्न प्रान्तों में स्थापित हुए, तो उन्होंने ग्रामोद्योगों पर गम्भीरतापूर्वक

ध्यान देने का प्रयत्न किया। गांधीजी की प्रेरणा, कुमारप्पा का प्रयास और परिश्रम तो इसमें थे ही। संघ को इस अवसर पर देश की राजनीति और विकासनीति में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ और मगनवाड़ी में मंत्रियों और नेताओं के अनेक सम्मेलन ग्रामोद्योगों के विस्तार की दृष्टि से हुए। कुमारप्पा ने कुछ प्रान्तीय सरकारों के लिए ग्रामोद्योगों के विस्तार और विकास की दृष्टि से सर्वे किये और रिपोर्ट तैयार की, जिनमें उनके विकास की ठोस योजनाएँ प्रस्तुत की गयीं। इस दृष्टि से कुमारप्पा द्वारा तैयार की गयी मध्य-प्रदेश और उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेशों की सर्वे-रिपोर्ट बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं और इस देश के ग्रामविकास के इतिहास में उनका स्थायी महत्त्व रहनेवाला है। लेकिन इसी दरमियान द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हो जाने और कांग्रेसी सरकारों के अपदस्थ हो जाने पर उक्त कार्य बीच में ही रुक गया। १९४६ में जब फिर कांग्रेसी सरकारें बनीं तो संघ के तत्त्वावधान में फिर मंत्रियों का एक सम्मेलन इस संबंध में बुलाया गया। यह सम्मेलन ३१ जुलाई और १ अगस्त को पूना में हुआ। इस सम्मेलन में ग्राम-आन्दोलन की दृष्टि से आयोजन का क्या स्वरूप हो और किस प्रकार से सारे देश में ग्रामोद्योगों तथा ग्रामनिर्माण के लिए एक समन्वित तथा संगठित प्रयत्न किया जाय, इस दृष्टि से कुमारप्पा ने ग्राम-विकास की एक योजना सम्मेलन के सामने प्रस्तुत की। साथ ही सरकार के कार्य इस संबंध में क्या हो सकते हैं, इस संबंध में एक ज्ञापन भी संघ की ओर से प्रस्तुत किया गया।

इस ग्रामविकास की समग्र योजना में योजना की आवश्यकता और उद्योगों के प्रसार, समग्र आयोजन तथा ग्रामोद्योगों पर मूलगामी प्रकाश डाला गया है और सरकारों के द्वारा इस संबंध में क्या-क्या काम किये जायँ, इस विषय में कुमारप्पा ने महत्त्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किये हैं।

सम्मेलन में निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकार किया गया :

"विभिन्न प्रान्तों से एकत्रित होनेवाले मंत्रियों का यह सम्मेलन, लोकप्रिय मंत्रिमण्डलों द्वारा आर्थिक विकास के लिए अपनायी जानेवाली नीति पर विचार करके, निश्चय करता है कि : (१) देश में फैले हुए तीव्र अभाव

को ध्यान में रखकर लोगों की मूलभूत आवश्यकताओं, खासकर भोजन और कपड़े के संबंध में, आर्थिक विकास की योजनाएँ, किसान और कृषि की ओर केन्द्रित होनी चाहिए। ये योजनाएँ प्रारम्भिक मानवीय आवश्यकता की पूर्ति के उद्देश्य से संचालित होनी चाहिए। इसके लिए इस प्रकार के कदम उठाये जायँ, जिनसे खेती के लिए प्राप्त जमीन समुचित नियमों के द्वारा—जैसे समाज के लिए आवश्यक विभिन्न फसलों के संबंध में लाइसेन्स देकर और आवश्यक अनुपात में—वितरित की जा सके। (२) कि, वास्तविक लोकतन्त्र की उपलब्धि के लिए यह आवश्यक है कि संलग्न क्षेत्रों को, जिनमें ग्राम या ग्राम-समूह शामिल हैं, स्वावलम्बी और स्वशासित आधार पर बहुउद्देशीय सहकारी समितियों और अनाज बैंकों के मार्फत संगठित किया जाय, जिससे उनके आर्थिक जीवन का आयोजन विकेन्द्रित आधार पर हो सके। रुपये की अर्थव्यवस्था को न्यूनतम मर्यादा तक घटाया जा सके और बाहरी व्यापार को प्रमाणित बचत की मर्यादा में सीमित किया जा सके।"

इन प्रस्तावों की स्वीकृति के पश्चात् अनेक प्रान्तीय सरकारों ने ग्राम-विकास के लिए आवश्यक तंत्र की स्थापना की। बम्बई और मद्रास ने इस मामले में पहल की। उत्तर प्रदेश, बिहार और उड़ीसा में भी इस दिशा में काम हुआ। भारत सरकार ने भी केन्द्रीय तिलहन समिति का गठन किया, रचनात्मक संस्थाओं ने भी अनेक ग्रामोद्योगों के विकास में भाग लिया। संघ ने इन सभी सरकारी तथा गैर सरकारी कार्यों में योग देने और भाग लेने का उत्साहपूर्वक प्रयास किया। संघ के व्यवस्थापक-मंडल की बैठक दिल्ली में ११ दिसम्बर १९४७ को हुई, जिसमें गांधीजी और कुमारप्पा फिर से संघ के अध्यक्ष और मंत्री चुने गये। लेकिन अगले महीने ही गांधीजी का देहावसान हो गया। इसका कुमारप्पा के मन पर बहुत ही भारी आघात हुआ। वे अत्यन्त भावुक होने के साथ-साथ रक्तचाप के रोग से पीड़ित थे, और वे उस समय वर्धा में ही थे। जब उक्त दुर्घटना का समाचार उन्हें दिल्ली से प्राप्त हुआ कि वह महान् ज्योति इस दुनिया से और देश से विलीन

हो गयी तो कुमारप्पा को ऐसा लगा कि वह ज्योति उनके अन्दर से ही निकल गयी। और, वास्तव में कुमारप्पा के शरीर और मन पर इस दुर्घटना का इतना असर पड़ा कि उनकी आँखों से दीखना ही बन्द हो गया। तीन दिन तक उनकी यह स्थिति रही। उसके बाद फिर उन्हें धीरे-धीरे दीखने लगा। उन्होंने इस अवसर पर लिखा :

"यदि हम गांधीजी के आदर्शों की प्राप्ति के लिए अपने जीवन को समर्पित करते हैं तो हमें इस दुनिया में शान्ति लाने के लिए बहुत परिश्रम करना पड़ेगा। आज की दुनिया साम्प्रदायिक विवाद, आर्थिक लालच, सत्ता की महत्त्वाकांक्षा से जर्जर है तथा घृणा और सन्देह से परिपूर्ण है। लेकिन जिनका भरोसा सर्वशक्तिमान् परमात्मा में है, उनके लिए कुछ असम्भव नहीं है। क्या हम अपने आँसुओं को पोंछ डालेंगे, कमर कस लेंगे और जो काम हमारे सामने है, हमारे अमर नेता बापू ने जिस अच्छे कार्य का आरम्भ किया है, उसे बढ़ाने में ईश्वर और मनुष्य के प्रति अटूट श्रद्धा के साथ जुट जायेंगे ?"

अगले महीने उन्होंने 'बापू लोकसेवक संघ' की कल्पना 'ग्रामोद्योग-पत्रिका' के द्वारा देश के सामने रखी। १९४८ के १३, १४ और १५ मार्च को सेवाग्राम में रचनात्मक कार्यकर्ताओं का सम्मेलन हुआ, जिसमें सर्वोदय-समाज की स्थापना की गयी और सभी रचनात्मक संस्थाओं के एकीकरण के लिए योजना बनाने और सम्मिलित समिति निर्माण करने की सिफारिश की गयी। इस संबंध में श्री कुमारप्पा को आवश्यक कार्यवाही करने का भार सौंपा गया। इसके साथ ही कुमारप्पा की योजना के अनुसार रचनात्मक कार्यकर्ताओं के रचनात्मक कार्यों के लिए केन्द्र स्थापित करने की सिफारिश की गयी। अगले महीने फिर बम्बई में विभिन्न रचनात्मक संस्थाओं के प्रतिनिधियों का सम्मेलन हुआ और उसमें अखिल भारत सर्व सेवा संघ के नाम से संघीय आधार पर एक संगठन निर्माण करने का निश्चय किया गया। इस संगठन में ११ संस्थाओं के ११ प्रतिनिधि रखे गये और वे गांधीजी के आदर्शों में विश्वास रखनेवाले चार व्यक्तियों को और

शामिल कर लें, ऐसा तय हुआ। इन १५ लोगों का कार्यकारी मंडल इन विभिन्न संस्थाओं की सामान्य नीति के निर्धारण, समन्वय और निरीक्षण के काम को हाथ में ले ले। श्री कुमारप्पा को सर्व सेवा संघ की सदस्यता का सरलतम प्रतिज्ञापत्र तैयार करने और उसकी सहमति विभिन्न संस्थाओं से प्राप्त करने की जिम्मेदारी सौंपी गयी। इसके अनुसार मगनवाड़ी में रचनात्मक संस्थाओं के पुनर्गठन की योजना और संघ का विधान तैयार किया गया। कार्यक्रम तैयार करने के लिए एक समिति की स्थापना की गयी, जिसमें कुमारप्पा भी शामिल थे।

इसमें कुमारप्पा का दृष्टिकोण यह था कि सारी गांधीवादी संस्थाओं का एकीकरण तो हो जाय, पर उसमें सत्ता का केन्द्रीकरण न हो, सर्वसामान्य कार्यक्रम पर ही एकसूत्रता बने।

मार्च १९४८ में संचालक-मंडल की बैठक में श्री जी० रामचन्द्रन् संघ के मंत्री चुने गये। श्री कुमारप्पा अध्यक्ष के रूप में काम करने लगे। उसी समय श्री आर० आर० कैथन, श्री अ० वा० सहस्रबुद्धे और श्री जी० रामचन्द्रन् संघ के संचालक-मंडल में शामिल किये गये। सितम्बर १९५२ में श्री रामचन्द्रन् गांधीग्राम के संचालक होकर चले गये और उनके स्थान पर श्री एस० वी० मंदागिरे श्री कुमारप्पा के मार्गदर्शन में मंत्री के रूप में काम करने लगे।

सर्व सेवा संघ के निर्माण के बाद संस्थाओं का जो प्रारम्भ में विलीनीकरण हुआ, उसके अन्तर्गत सभी संस्थाएँ अपना अलग-अलग अस्तित्व रखकर काम करती रहीं और सर्व सेवा संघ का स्वरूप उक्त संगठनों के एक संयुक्त समिति के जैसा ही रहा। वास्तव में देखा जाय तो, जैसा कि जी० रामचन्द्रन् ने श्री धीरेन्द्रभाई से कहा, "हमने केवल पत्र-व्यवहार का कागज ही बदला है।" पर कुमारप्पा इस प्रारम्भिक विलीनीकरण के बाद ही मगनवाड़ी छोड़कर शेल्डोह के संतुलित कृषि के प्रयोग हेतु चले गये थे। इसके बाद १९५३ में गोसेवा-संघ, ग्रामोद्योग-संघ और चरखा-संघ का वास्तव में विलीनीकरण हुआ और इन सब संस्थाओं का अलग-अलग अस्तित्व और

कार्य समाप्त हो गया। सर्व सेवा संघ ने एक प्रकार से देश में चलने वाले रचनात्मक कार्यक्रम का नेतृत्व सँभाल लिया और भूदान-आन्दोलन को अपनाकर विनोबाजी के नेतृत्व में उसे ही देश का प्रमुख आन्दोलन और कार्यक्रम बनाने में पहल की।

सर्व सेवा संघ के सक्रिय और सक्षम रूप से संगठित होने के साथ-साथ रचनात्मक कार्यक्रम की परिस्थितियाँ बदल गयीं। खादी- ग्रामोद्योग, गो-सेवा आदि के नैतिक मार्ग-दर्शन और प्रेरणा की जिम्मेदारी सर्व सेवा संघ के पास रही और व्यावहारिक कार्यक्रम के संचालन, वित्तीय सहायता, निरीक्षण और नियंत्रण की जिम्मेदारी खादी-ग्रामोद्योग कमीशन और बाद में गो-संवर्धन कौंसिल जैसी अर्ध-सरकारी संस्थाओं को सौंप दी गयी।

●

आठ

ब्रह्मचारी कुमारप्पा का विवाह मगनवाड़ी से

जब श्री जमनालालजी गांधीजी और उनके साथियों को साबरमती से वर्धा लेकर आये तो बजाज-परिवार के एक बगीचे में वे रहने लगे। यह स्थान वर्धा शहर के एक छोर पर था। उसमें एक पक्का मकान था तथा उसके चारों ओर बहुत विस्तृत खाली जमीन थी। इसी मकान में गांधीजी रहने लगे और वहीं कुमारप्पा को एक छोटी-सी जगह मिल गयी। इस सारे स्थान का नाम बाद में मगनवाड़ी रखा गया और यह अखिल भारत ग्रामोद्योग-संघ का प्रधान कार्यालय बन गया और संघ तथा कुमारप्पाजी की

प्रभु ईसा का पुनरावतरण : मगनवाड़ी में स्थापित मूर्ति

सारी प्रवृत्तियों का केन्द्र। पहले-पहल उपर्युक्त पक्के मकान के आसपास ही छोटे और कच्चे छप्पर डालकर ग्रामोद्यागों की शुरुआत कर दी गयी थी। यह शुरुआत १९३५ में हुई थी और उसमें गांधीजी के मार्ग-दर्शन में कुमारप्पा-जी ने कार्यारम्भ किया था। श्री छोटेलाल जैन और श्री कालू खाँ इस काम में कुमारप्पाजी के साथ थे। एक ओर उन छोटे छप्परों में ग्रामोद्योग का काम चलता था, जिनमें खादी, हाथ-चक्की, खेती, तेलघानी, मधुमक्खी-पालन के उद्योग थे, दूसरी ओर मगनवाड़ी की योजना, उद्योग और नक्शे तैयार किये जा रहे थे और नये मकान बनाने का काम आरम्भ हो रहा था।

नयी योजना के अनुसार मगनवाड़ी की शुरुआत १९३८ में हुई।

मगनवाड़ी के मुख्य प्रवेश-द्वार पर ग्रामीण स्त्री और पुरुष के चित्र बने हुए हैं। उनके ऊपर अष्टदल कमल और अजन्ता शैली के मोरों का चित्रण है। उसके ऊपर दो बैल दिखाये गये हैं। सबके ऊपर एक घण्टे का चित्र है। यह सब मगनवाड़ी के उद्देश्य और कार्यक्रम की ओर संकेत करते हैं। मगनवाड़ी के भवनों पर श्री नन्दलाल वसु और उनके शिष्यों के बनाये हुए चित्र मौजूद हैं। इस प्रवेश-द्वार का नाम अब कुमारप्पा-द्वार रख दिया गया है। द्वार के अन्दर प्रवेश करने पर सबसे पहले सत्याग्रह-मंदिर आता है। यहाँ खुले आकाश के नीचे क्लाराक्वीन हाक मेन द्वारा निर्मित ईसा की एक मूर्ति है, जो सूली पर लटकाये जाने के बाद ईसामसीह को सूली से उतारकर लिटाये जाने के प्रसंग का दर्शन कराती है। समाज के हित के लिए, सत्य की रक्षा के लिए कष्ट-सहन और आत्मबलिदान की भावना की प्रतीक य ह मूर्ति है। इस मूर्ति को खुले आकाश के नीचे रखा गया है। श्रीमती क्लाराक्वीन हाक मेन का मानना था कि यह मूर्ति इस प्रकार की मिट्टी और रासायनिक द्रव्यों के मिश्रण से तैयार की गयी है कि लगातार पानी पड़ने पर वह १५-२० वर्ष में बिलकुल पत्थर की तरह सख्त और पक्की हो जायगी। जब तक कुमारप्पा मौजूद थे, तब तक इस सत्याग्रह-मंदिर की सफाई, व्यवस्था काफी अच्छी थी। अब कुछ ढीली पड़ गयी मालूम होती है। ऐसा भी लगता है कि पिछले समय में कुछ असावधानी और शायद कुछ विद्वेष के कारण

मूर्ति का एक भाग खंडित भी कर दिया गया है। उसके चारों ओर विभिन्न उद्योगों के लिए भवन बने हुए हैं। इस सारे अहाते या चौक को उद्योग-भवन का नाम दिया गया है। इस उद्योग-भवन का उद्घाटन गांधीजी के द्वारा ३० दिसम्बर १९३८ को हुआ था। मगन-संग्रहालय का उद्घाटन भी उसी दिन हुआ था। यह उद्घाटन गांधीजी ने घण्टा बजाकर किया था। इस चौक में उद्योगों का क्रम दायीं ओर से इस प्रकार रहा—सबसे पहला स्थान खाद्य-उद्योगों को दिया गया। उसमें धान-कुटाई, हाथ-चक्की सबसे पहले थी। उसके बाद तेलघानी, लोहारी, बढ़ईगिरी, मधुमक्खी-पालन, कताई और प्रार्थना-घर, मगनदीप, कुम्हारी, पेण्ट-वार्निश, साबुनसाजी और कागज-साजी से कक्षों, शोध और प्रयोगशाला को स्थान दिया गया। इसके आगे ग्रामोद्योग-संघ का कार्यालय और ग्रामोद्योग-वस्तु-भण्डार का स्थान है, जो मुख्य सड़क पर है। उसके आगे ग्रामसेवक विद्यालय और छात्रावास के स्थान हैं। मगनवाड़ी के पूर्वी छोर पर मगन-संग्रहालय बना हुआ है। इस संग्रहालय में खादी और ग्रामोद्योग के दो विभाग हैं। इनमें उन उद्योगों के संबंध के विभिन्न औजारों, उपकरणों, प्रक्रियाओं तथा उत्पादित वस्तुओं के नमूनों का संग्रह किया गया है। गत दशाब्दियों में खादी-ग्रामोद्योगों के क्षेत्र में हुए नये प्रयोगों और शोधों का परिचय भी इस संग्रहालय से प्राप्त होता है। इस संग्रहालय के एक भाग में गांधी-कक्ष भी है, जिसमें गांधीजी को विभिन्न स्थानों से भेंट में प्राप्त वस्तुओं का संग्रह है। व्यवस्था के अभाव से यह संग्रहालय बहुत अव्यवस्थित और जर्जर अवस्था में था। हाल ही में संग्रहालय भवन में भी व्यापक रूप से मरम्मत की गयी है और संग्रहालय का भी पुनर्संगठन हुआ है।

मगनवाड़ी के सारे भवन ग्रामोद्योगी तथा स्थानीय वस्तुओं से ही निर्मित किये गये हैं। इनमें बाँस, मिट्टी और चूने का ही विशेष उपयोग हुआ है। जहाँ आवश्यकता हुई है, पक्के स्तम्भ बनाये गये हैं। अन्यथा सारा निर्माण कच्चा ही है। मगनवाड़ी के एक-एक पत्थर और एक-एक ईंट से कुमारप्पा का निकट का परिचय था। मगनवाड़ी के सारे भवनों का निर्माण कुमारप्पा

की देख-रेख में हुआ। उद्योग-भवन के निर्माण के पश्चात् जो कुछ सामान बचा--ईंट, पत्थर, बाँस आदि, उस सबको कुमारप्पा ने इकट्ठा कराकर अलग-अलग छँटवाया और उसी सामान के अनुकूल एक छोटे-से निवास-स्थान का नक्शा बनाया और उसीके अनुसार मगन-संग्रहालय के पीछे एक कच्चा मकान मय बरामदे के बनाया गया, जिसके दो अन्दरूनी भाग थे। एक में सोने की जगह थी और दूसरे में स्नानागार था। इन दोनों के बाहर ५ फुट का बरामदा था, जिसे अब कुमारप्पा-कुटी का नाम दिया गया है। इसीमें कुमारप्पा रहते थे। इस कुटी के चारों ओर बाँस का घेरा बना हुआ है। इस घेरे में लगभग ६×४ फुट का एक तख्ता रखा हुआ है, जिस पर वे खुले आकाश के नीचे सोया करते थे।

अखिल भारत ग्रामोद्योग-संघ की पंचमुखी योजना थी :

(क) शोध, (ख) उत्पादन, (ग) प्रशिक्षण,

(घ) विस्तार और संगठन, (ङ) प्रचार और प्रकाशन।

ये पाँचों प्रवृत्तियाँ मगनवाड़ी में अपनी पूरी गहराई और व्यापकता से चलायी जाती थीं और लगभग १५ वर्ष तक कुमारप्पा अपनी पूरी क्षमता, परिश्रम और प्रयत्न के साथ उनका संचालन करते रहे।

जिन ग्रामोद्योगों का ऊपर जिक्र किया गया है, उनका उपर्युक्त सभी दृष्टियों से मगनवाड़ी में संचालन किया गया। इन सभी ग्रामोद्योगों को उत्पादन, उपयोग और व्यवहार की दृष्टि से यहाँ संगठित किया गया। प्रयोगशाला के अन्तर्गत इनके संबंध में लगातार शोध और संशोधन चला। प्रशिक्षण की दृष्टि से ग्रामसेवक विद्यालय मगनवाड़ी में चलाया गया। मगनवाड़ी के प्रयोगों और उपलब्धियों को व्यापक बनाने के लिए श्री कुमारप्पा देशभर में दौरा करते रहे और उन्होंने मगनवाड़ी के काम को एक आन्दोलन का रूप देने के लिए पूरा प्रयास किया। प्रचार-प्रकाशन की दृष्टि से 'ग्रामोद्योग-पत्रिका' निकाली, जो अंग्रेजी एवं हिन्दी में निकलती थी। उन सब कार्यों के परिणामस्वरूप ग्रामोद्योगों ने इस देश में

आन्दोलन का रूप पकड़ा। इनके पुनर्जीवन का नयी संभावनाओं के साथ प्रयत्न चालू हुआ और भारत के आर्थिक नक्शे तथा आर्थिक आयोजन में ग्रामोद्योगों को स्थान मिला। इन सारे महत्त्वपूर्ण कार्यों का केन्द्र मगनवाड़ी रहा और इसकी प्राणशक्ति कुमारप्पा रहे। इसमें सन्देह नहीं कि यह सारा कार्यक्रम हमेशा गांधीजी की प्रेरणा, मार्ग-दर्शन और संरक्षण में आरम्भ हुआ, पनपा और चला। पर यह भी निःसन्देह है कि इनमें प्रेरक कार्यशक्ति कुमारप्पा की थी। स्वाभाविक रूप में उनके सहयोगियों तथा कार्यकर्ताओं का पूरा परिश्रम और योग रहा।

कुमारप्पा मगनवाड़ी के सारे काम में अथ से इति तक रमे हुए थे। उन्हें प्रायः मगनवाड़ी का शेर कहा जाता था। वे मगनवाड़ी के काम की प्रत्येक तफसील को बहुत विस्तार और गहराई से देखते थे। मगनवाड़ी की हर चीज अपने स्थान पर क्यों और क्या है और मगनवाड़ी की हर प्रवृत्ति किसलिए, क्यों और कैसे चलायी जाती है, इसका पूरा स्पष्टीकरण उनके पास हमेशा मौजूद रहता था। वे सप्ताह में एक बार या आगे-पीछे, कभी-कभी अचानक भी, मगनवाड़ी का निरीक्षण करते थे। निरीक्षण का दिन सारे विभागों के कार्यकर्ताओं के लिए कड़ी परीक्षा का होता था। कहीं भी जरा-सी भी अव्यवस्था, कूड़ा-कचरा, मिट्टी, जाला आदि कुमारप्पा को बरदाश्त नहीं होता था। एक भी बाँस या खपरैल कहीं भी टूटा-फूटा नहीं रह सकता था। ग्रामोद्योगों के अतिरिक्त किसी भी वस्तु का कहीं व्यवहार सम्भव नहीं था। बिजली की शक्ति का प्रयोग रोशनी तक के लिए करना उन्हें मंजूर नहीं रहा। उनका मानना था कि तेज रोशनी का प्रयोग न केवल मनुष्य की आँखों और उसके स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है, बल्कि उससे रात में कीड़े-मकोड़ों और पक्षियों को भी अनावश्यक असुविधा और हानि होती है।

कुमारप्पा की देखरेख में प्रयोगशाला में तेलघानी, साबुनसाजी, मगनदीप, पेण्ट-वार्निश आदि में उपयोगी शोधें की गयीं। शोध का काम केवल प्रयोगशाला तक सीमित नहीं था। प्रत्येक विभाग भी अपने-अपने
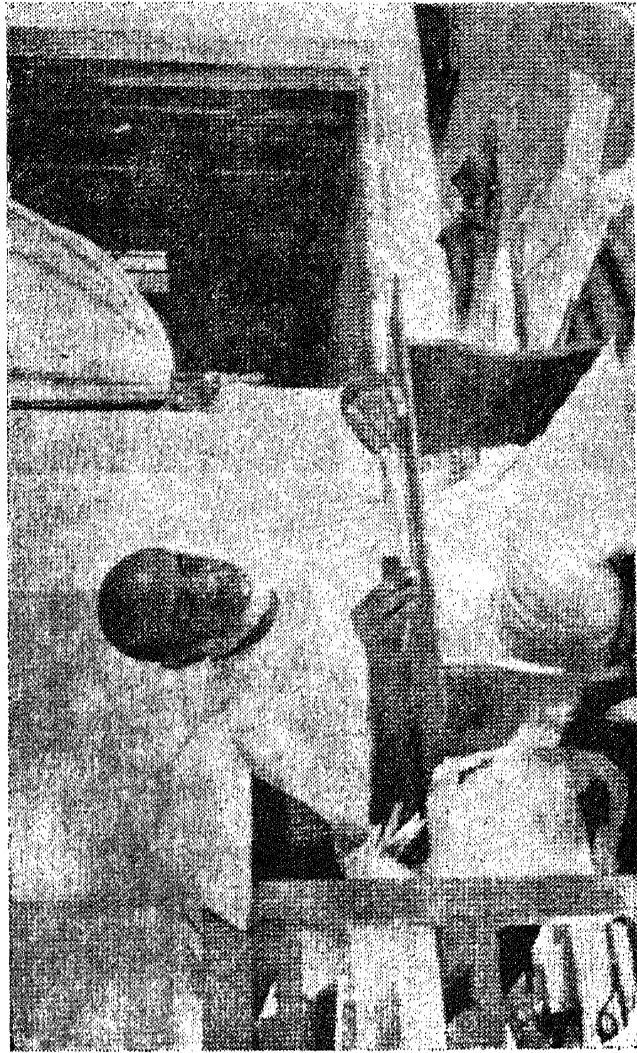
मगनवाड़ी की कुटिया में अध्ययन-रत

विनोबाजी के साथ विचार-विनिमय
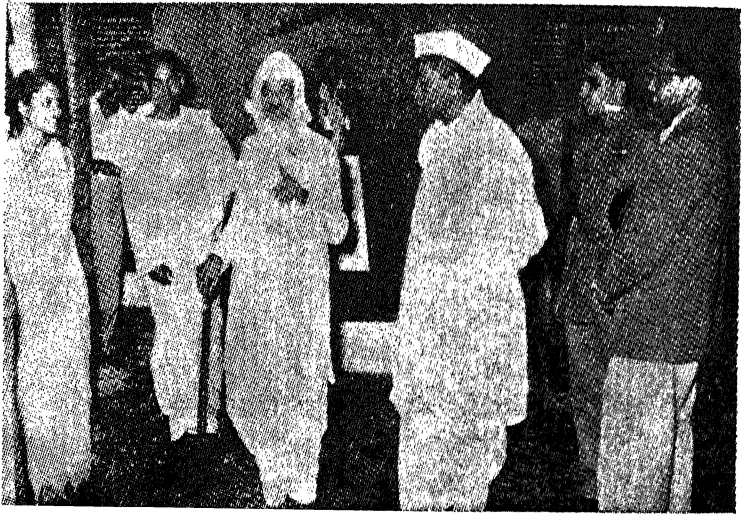
स्व० राष्ट्रपति राजेन्द्रबाबू वेल्लोर अस्पताल में कुमारप्पाजी के साथ

क्षेत्र में सुधार और संशोधन में लगा रहता था। तेलघानी-विभाग ने मगनवाड़ी-घानी के नाम से एक अत्यन्त श्रेष्ठ कोटि की घानी का नमूना देश को प्रदान किया है। धान-कुटाई और आटा-पिसाई की चक्कियों में अनेक सुधार किये गये। हाथ-कागज के काम में भी अनेक महत्त्वपूर्ण संशोधन हुए हैं। मधुमक्खी-पालन में पहाड़ी मक्खी को पालतू बनाने का कठिन काम सम्पन्न हुआ है। कुम्हारी-विभाग ने मगन चूल्हे के नाम से एक निर्धूम चूल्हे का आविष्कार करके एक आवश्यक सुविधा ग्राम-गृहिणियों को प्रदान की है। ताड़गुड़-विभाग ने हाथ से चलनेवाली घरेलू किस्म की शक्कर बनाने की मशीन तैयार की।

आरम्भ से ही मगनवाड़ी में ग्रामसेवा के लिए कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण का काम चलता था। बाद में यह प्रशिक्षण बुनियादी तालीम के आन्दोलन के आरम्भ के पश्चात् ग्रामोद्योग–नयी तालीम के रूप में विकसित हुआ। मगनवाड़ी के विद्यालय में प्रशिक्षित कार्यकर्ता सैकड़ों की संख्या में निकले और वे सारे देश के रचनात्मक कार्यों में अपना उल्लेखनीय योगदान कर रहे हैं। कुमारप्पा की सूझ-बूझ, कड़े परिश्रम तथा अनुशासन के साथ अर्थशास्त्र के सही दृष्टिकोण और ग्रामोद्योगों के व्यावहारिक तथा कार्य-कारी प्रयोगों और व्यवहार के कारण रचनात्मक कार्यकर्ताओं का समूह तैयार करने में मगनवाड़ी का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण माना जायगा।

ग्रामोद्योगों के विस्तार और प्रचार की दृष्टि से कुमारप्पाजी की प्रेरणा और प्रयत्न के परिणामस्वरूप कल्लूपट्टी, गांधीग्राम आदि अनेक स्थानों में मगनवाड़ी के छोटे संस्करण–ग्रामोद्योग-उत्पादन तथा प्रशिक्षण-केन्द्र–चालू हुए और बढ़े।

मगनवाड़ी के आरम्भ से ही कुमारप्पा ने 'ग्रामोद्योग-पत्रिका' के नाम से एक मासिक पत्र का प्रारम्भ किया और जब तक उन्होंने अवकाश ग्रहण नहीं किया, तब तक यह पत्रिका नियमित रूप से चलती रही और गांधी-वादी अर्थशास्त्र, ग्रामोद्योगों के दर्शन, व्यवहार और कार्यक्रम तथा उनके प्रति सरकार और जनता के दृष्टिकोण तथा कर्तव्य पर शक्तिशाली और

तीखे रूप में प्रकाश डालती रही और एक प्रकार से वह देश में विकेन्द्रित और ग्रामोद्योगी अर्थ-व्यवस्था की प्रबल आवाज के रूप में कायम रही।

कुमारप्पा से यह प्रश्न कई बार किया गया था कि आपने विवाह क्यों नहीं किया ? कुमारप्पा ने एक बार उत्तर दिया था, "पहले मेरा विचार उस समय विवाह करने का था, जब मेरी आमदनी चार अंकों की हो जाय। कुछ वर्षों के बाद जब मैं आमदनी के उस लक्ष्य पर पहुँचा तो गांधीजी के जाल में फँस गया और ऐसा फँसा कि मुझे विवाह की याद ही नहीं आयी।" फिर उन्होंने अपनी सुपरिचित व्यंग्यपूर्ण हल्की मुस्कराहट के साथ कहा, "दूसरी बात यह है कि मुझे किसीने चाहा ही नहीं।" हमारा ख्याल है कि कुमारप्पा की यह धारणा बिलकुल गलत थी। कहने को कुमारप्पा बाल-ब्रह्मचारी थे और आजीवन ब्रह्मचारी रहे, पर दरअसल वर्धा आने के बाद उनका विवाह मगनवाड़ी से हो गया था और वही उनके जीवन और विचार का १५ वर्ष तक केन्द्र रही। उसके एक-एक कण और एक-एक साँस में कुमारप्पा ने अपना चिन्तन और परिश्रम मिला दिया था।

कुमारप्पा के चले जाने के बाद मगनवाड़ी का स्वरूप और उसकी प्रेरणा ही बदल गयी। अब उसके दो भाग हो गये हैं। उद्योग और शोध का नियन्त्रण खादी-ग्रामोद्योग-कमीशन के अन्तर्गत चला गया है और जमनालाल बजाज-शोध-संस्थान इन कामों को चला रहा है। मगन-संग्रहालय आदि की व्यवस्था सर्व सेवा संघ के अन्तर्गत है। पर इससे इनकार करना अवास्तविक होगा कि कुमारप्पा के अभाव में मगनवाड़ी तेजहीन तथा प्राणहीन विधवा हो गयी है।

नौ

•

ईसामसीह के पद-चिह्नों पर

कुमारप्पा का जन्म एक प्रतिष्ठावान् भारतीय ईसाई परिवार में हुआ था। ईसाई साहित्य का तथा ईसाई धर्म के व्यवहार का जो कुछ ज्ञान और दर्शन कुमारप्पा को हुआ, वह बहुत करके अपनी माता के चरणों में हुआ। उनकी माता का जीवन बहुत सादा था और उनका बहुत-सा समय ईसाई धर्म के सिद्धान्तों के अनुकूल आचरण में ही बीतता था और जो काम धर्मशास्त्र की बड़ी-बड़ी पोथियों और प्रवचनों से नहीं हो सकता था, वह सेवा और सहानुभूति के छोटे-छोटे कामों के जरिये सहज में हो जाता था।

कुमारप्पा ने लिखा है, "मैं बचपन में पालतू पशु-पक्षियों का बहुत शौकीन था। मेरी माँ मुझे मुर्गे-मुर्गी आदि के पालन के लिए प्रोत्साहित करती थी। जब वह महीने के आरम्भ में बाजार में जातीं, तब मुझे साथ ले जातीं और मुर्गियों के चूजों के लिए चारा-दाना खरीदवातीं। मैं महीनेभर अण्डे बेचता, हिसाब रखता और महीने के आखीर में वह बचत का हिसाब लगवातीं। जो बचता उसको परोपकार में लगाने को कहतीं। परोपकार के ऐसे ही सीधे-सादे काम होते थे, जैसे : किसी अनाथ बालक को पाठशाला में पढ़ने के लिए कुछ सहायता कर देना आदि। जब मैं बड़ा हो गया और आडिटर का धन्धा करने लगा, तब भी मुझे महीने की पहली तारीख को इन परोपकार के कामों के लिए माता को अपनी आमदनी का निश्चित भाग भेजना पड़ता था। एक बार जब मैं गर्मी की छुट्टियों में अपनी माँ के साथ कोडाई कनाल में था तो एक रविवार के दिन गिरजाघर में यह

घोषणा की गयी कि चीन में भयंकर अकाल पड़ा हुआ है। उस दिन घर में दोपहर को शानदार भोज की व्यवस्था थी। मुझे आश्चर्य हो रहा था कि माँ ने ऐसा क्यों किया? जब हम लोगों ने पूछा तो माँ ने मुस्कराकर कहा, "पीछे बताऊँगी।" हम भोजन के बाद विश्राम को चले गये। जब चाय के समय इकट्ठे हुए तो माँ ने हम लोगों से चीन के अकाल का जिक्र किया और उसकी तुलना दोपहर के भोज से की और उसने हमसे कहा कि तुम सब लोगों को चीन के अकाल-पीड़ितों को मदद देनी चाहिए। यही नहीं, उसने एक चन्दे की तैयार सूची भी निकाली, जिसमें न केवल हम सबके नाम लिखे हुए थे, बल्कि उसके विचार के अनुसार हमारी दान दे सकने की क्षमता को आँक-कर सहायता की रकमें भी लिखी जा चुकी थी। मेरे नाम के आगे ५० रु० की रकम लिखी हुई थी। माँ ने वह रकम मुझसे वसूल कर ही ली। इस प्रकार वह हम लोगों से व्यक्तिगत रूप से सहायता की रकमें प्राप्त करती थीं। साथ ही हमें मित्रों से इसी प्रकार की सहायता प्राप्त करने के लिए प्रोत्सा-हित करती थीं। समाज-सेवा के काम का यह गृह-प्रशिक्षण मुझे अपनी माँ से मिला।

कुमारप्पा को ईसाई धर्म के महान् सिद्धान्तों का केवल अध्ययन-मनन करने से सन्तोष न था। धार्मिक संगठनों और सेवाओं तथा ईसामसीह के उपदेशों में जो भारी अन्तर पड़ गया था, १६ वर्ष की अवस्था में ही उसे दूर करने के प्रयास में वे लग गये थे। एक तरफ इंग्लिश चर्च का एक पादरी अपनी धार्मिक क्रियाओं में अपने मोटर चालक को साथ लेना उचित समझता था, पर स्काटलैण्ड के प्रेसबिटेरियन चर्च के बड़े पादरी के साथ ऐसा करने से नफ़रत करता था; दूसरी ओर इंग्लिश चर्च का वही पादरी सामाजिक स्तर पर प्रेसबिटेरियन पादरी को भोजन के लिए आमंत्रित करना उचित मानता था और अपने ही घर के चालक के साथ एक मेज पर बैठकर खाना खाने से नफरत करता था। जब कुमारप्पा प्रथम विश्व-युद्ध के दिनों में इंग्लैण्ड में थे, तो चर्च में की जानेवाली युद्ध-संबंधी प्रार्थनाओं का उनके मन पर बहुत प्रभाव पड़ा। वे सार्वजनिक प्रार्थनाएँ चाहे सेण्ट-

पाल के गिरजाघर में हों या वेस्ट मिनिस्टरअबे में हों और कितनी ही सावधानी से हों, उनका दृष्टिकोण जगत्पिता और शान्ति के समुद्र ईसामसीह की पूजा से मेल नहीं खाता था। उनमें एक समाज को नष्ट कर देने की प्रार्थनाएँ हुआ करती थीं। कुमारप्पा की दृष्टि में यह भी उचित नहीं लगता था कि पादरी लोग गिरजा के प्रार्थनाघर में लोगों को युद्ध में भर्ती होने की अपील करें। उन्हें गिरजाघर में खून से सने झण्डे और प्रसिद्ध सेनापतियों की किर्चें भी असंगत और अपवित्र मालूम होती थीं। ईसामसीह और गिरजाघरों के इन अन्तरों के कारण गिरजाघरों की ईसा-इयत के प्रति कुमारप्पा की आस्था खत्म हो गयी। भारतीय और पश्चिमी, दोनों ही क्षेत्रों के ईसाइयों का ध्यान युद्ध के अन्तर्विरोध की ओर नहीं था। भारतीय ईसाई रहने-सहने के तरीकों और जीवन के स्तर में पश्चिमवालों का अनुकरण करके अपने-आपको धन्य मानते थे। कुमारप्पा के शब्दों में, 'यद्यपि वे उस ईसामसीह के अनुयायी थे, जिसके पास सिर ढँकने तक की जगह नहीं थी, पर वे जो सलीब (क्रास) लेकर चलते थे, वह सोने का होता था और घड़ी की चेन में लटका रहता था।" कुमारप्पा के दृष्टिकोण से यह औपचारिक ईसाई धर्म केवल शासन का अंग बनकर रह गया है। इस विषय की एक घटना मनोरंजक है। एक बार जब कुमारप्पा प्रवास कर रहे थे तो एक पादरी मदुराई रेलवे स्टेशन पर उनके डिब्बे में सवार हुआ। उनके गले में नौ इञ्च लम्बा सोने का सलीब सोनेकी जंजीर से लटका हुआ था। कुमारप्पा ने पादरी साहब से विनोद में कहा, "आजकल के खतर-नाक जमाने में इतना बड़ा सोने का सलीब पहनकर आप अपनी गर्दन को खतरे में नहीं डाल रहे हैं?" पादरी साहब हँसकर बोले, "मैं क्या धन का प्रदर्शन कर रहा हूँ? यह सलीब तो मुझे, मेरे पादरी बनने के दिन मेरे धार्मिक क्षेत्र के लोगों के द्वारा, भेंट किया गया था। पर यह सलीब ठोस सोने का थोड़े ही है।" उसने कुमारप्पा को सलीब दिखाया और कहा, "यह तो हल्का पोला सलीब है।" कुमारप्पा ने पादरी साहब से कहा, "इस प्रसंग से तो कई मुद्दे निकलते हैं, ईसामसीह का सलीब अपराधियों को सूली देने के लिए,

सस्ती पर मजबूत, लकड़ी का बना हुआ भारी-भरकम था। निश्चय ही सोने का सलीब तो था नहीं। इसके अतिरिक्त यह सलीब जो कुछ नहीं है उसको दिखाने का ढोंग करता है। यह सोने का नहीं है, फिर भी सोने का दिखना चाहता है। यह सीधी-सादी लकड़ी का भी बना हुआ नहीं है। ईसामसीह को सलीब पर लटकाया गया था, जब कि आपके मामले में सोना आपकी गर्दन के चारों तरफ लटकाया हुआ है। मैं इस बात को मानता हूँ कि आज की दुनिया में ईसामसीह को भी सोने का भारी बोझ ढोना पड़ेगा, क्योंकि आज की दुनिया में मनुष्य को जो प्रतिष्ठा और स्थान मिलता है, वह सोने की प्रतिष्ठा के कारण है। फलतः सोना ईसामसीह के सिद्धान्तों की हत्या कर रहा है। पर निश्चय ही आप यह खाका जनता के सामने नहीं रखना चाहते हैं। ईसामसीह का सलीब कठिनाइयों का प्रतीक है। अगर हम ईसामसीह के सिद्धान्तों को कार्यकारी रूप देना चाहें, तो हमें बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा।" पादरी को मानना पड़ा कि जो कुछ कुमारप्पा कह रहे हैं वह सही है, पर पादरी साहब का कहना था कि "मैं विश्वव्यापी संगठन का एक छोटा-सा पुर्जा-मात्र हूँ। इन सब अलंकारों का स्रोत ईसाइयों के पहले के पेगन धर्म का है और मैं उक्त संगठन का एक छोटा हिस्सा होने के कारण इन बातों के बारे में कोई सवाल नहीं खड़ा कर सकता। मैं इसको मेरे पद के उपकरण के रूप में मानता हूँ। मेरे द्वारा इसमें परिवर्तन करना सम्भव नहीं है। अतः मैं परम्पराओं और पुराने रीति-रिवाजों को मानने के लिए बाध्य हूँ।"

एक दूसरे अवसर पर कुमारप्पा ने एक पादरी साहब से कहा, "जो लोग राष्ट्रीय काम कर रहे हैं, वे चाहे सलीब के जैसा कोई धार्मिक प्रतीक लेकर न चलते हों, पर जब वे गाँवों में गरीब लोगों की सेवा करते हैं, उनके जीवन के सादे स्तरों को स्वीकार करते हैं, गाँवों में पायी जानेवाली कठिनाइयों को भोगते हैं, तो वे भी एक सलीब लेकर चलते हैं, जिसमें कोई शिकायत तो है ही नहीं, बल्कि दूसरों के भार, कठिनाइयों और मुसी-बतों में भागीदार बनने में प्रसन्नता की भावना है। वह ठीक ईसामसीह

की उस भावना के अनुकूल है, जिसके अनुसार उन्होंने अपराधियों के साथ मृत्यु में हिस्सा बँटाया और अपने आदर्शों की पूर्ति के लिए अपार कष्ट सहे।

मगनवाड़ी के उद्योग-भवन के बाहर ईसामसीह की जो सुन्दर मूर्ति है, उसमें उनका सलीब से उतारा जाना चित्रित किया गया है। यह मूर्ति अखिल भारत ग्रामोद्योग-संघ को कुमारप्पा के मंत्रित्व-काल में क्लाराक्वीन हाकमेन द्वारा भेंट की गयी थी। उसके नीचे लिखा हुआ एक अंश इस प्रकार है, "समाज के लिए कष्ट-सहन और बलिदान-भावना सारे सत्याग्रहियों का लक्ष्य होना चाहिए।" इस भावना को व्यक्त करने के लिए यह मूर्ति तैयार की गयी है। इसमें ईसामसीह उस सलीब से उतारे जा रहे हैं, जिस पर उनके युग के नेताओं ने उन्हें चढ़ा दिया था। इसका कारण यह था कि अपने जीवन की शुद्धता और सत्य के निर्मल और कठोर समर्थन के कारण वे अपने युग के चालू बुरे रीति-रिवाजों और परम्पराओं के असहनीय आलोचक साबित हुए और उन्होंने अपना जीवन अपने आदर्शों की पूर्ति में दे डाला।

कुमारप्पा ने इस बात का कुछ संकेत किया है कि ईसामसीह के क्रान्तिकारी सन्देश को भारत में स्वाधीनतापूर्वक विकसित होने दिया जाय तो वह किन दिशाओं में आगे बढ़ेगा। उनका पहला संकेत यह है कि ईसामसीह का प्रेम का सिद्धांत केवल मानव-जाति तक सीमित न रहे, बल्कि प्राणीमात्र तक आगे बढ़े। निश्चय ही यह ईसामसीह की भावना के प्रतिकूल नहीं है और इस देश की भावना के अनुकूल है, जहाँ बौद्धों और जैनों ने अपने अहिंसा के सिद्धान्तों में सारी जीव-सृष्टि का समावेश करने का प्रयत्न किया है।

उनका दूसरा संकेत ईसामसीह के सक्रिय प्रेम के सिद्धान्तों को शत्रु और अपराधी तक बढ़ा देने का है। कुमारप्पा के आजीवन प्रयोगों से उनके इस विचार को बल मिला। स्पष्ट ही गांधीजी के जीवन और उनके अनुभव से भी कुमारप्पा को प्रेरणा मिली।

कुमारप्पा का तीसरा संकेत ईसामसीह के नैतिक उपदेशों को भारत और संसार की राजनीति और अर्थशास्त्र तक लागू कर देने का है। कुमारप्पा ने एक अर्थशास्त्री की हैसियत से ईसाई धर्म के धार्मिक और आर्थिक

विचार को इस देश में लागू करने की जोरदार सिफारिश की है। कुमारप्पा का कहना है कि हमारा देश भूखे, प्यासे, दलित, नंगे, बीमार और दुःखी लोगों से भरा हुआ है, क्या हम उनके सामने से मुँह फेरकर चले जायेंगे या ईसामसीह के इस आदेश को मान्य करेंगे कि 'तू इन्हें खाने को दे।' जिस तरह ईसामसीह ने जोन्स के लड़के साइमन को कहा था, "आज हम तुझसे कहते हैं, क्या तू मुझे प्यार करता है? तो मेरे मेमनों को खिला।" क्या हम उसका अनुसरण करने को तैयार हैं, जो भलाई करता हुआ और दुखियों के दुःख दूर करता हुआ चारों ओर घूमता रहता था, क्योंकि ईश्वर उसके साथ था? ईसामसीह के उपदेश का यही पूरा आशय है। ईसामसीह की भाषा में इसे यों भी कहा जा सकता है : "जो कुछ तेरे पास है उसे बेच डाल, उसे गरीबों को दे डाल और मेरे साथ आ जा। सलीब को उठा और मेरे पीछे चल।" यह हमारे लिए चुनौती है। कुमारप्पा ने अपना सलीब स्वयं उठाया था, और अपने गुरु का अनुसरण किया था। उन्होंने भारी आमदनीवाले धन्धे को छोड़ा था और देश के सबसे नीचे के स्तर के लोगों की सेवा में अपना जीवन लगा दिया था। उन्होंने किसान के साथ अपने हाथों से सख्त जमीन खोदी थी तथा धूप और वर्षा सही थी। वे एक सच्चे ईसाई की तरह सचाई और ईमानदारी के साथ गरीबों और अभावग्रस्तों की सेवा में लगे रहे। जैसा गांधीजी ने उनकी एक पुस्तक की भूमिका में लिखा है, "कुमारप्पा में से विश्वास प्रकट होता है और वह विश्वास यह है कि पश्चिम यद्यपि नाम के लिए ईसाई है, पर अभी तक उसने सच्चे ईसामसीह को नहीं पहचाना है।"

●

दस

•

आजादी से पहले और बाद में

कुमारप्पा २ जनवरी १९४५ को जेल से बीमारी के कारण रिहा कर दिये गये। जेल में उनकी बीमारी बहुत बढ़ गयी थी। उनके हाथ-पैर सूजकर नीले पड़ गये थे। इसका कारण मानसिक था, इसलिए जेल से बाहर आने के बाद कुछ ही सप्ताहों में उनके स्वास्थ्य में पर्याप्त सुधार हुआ और वे गांधीजी से मिलने सेवाग्राम चले गये। गांधीजी भी कुछ समय पहले ही रिहा हुए थे। स्वस्थ होने के बाद भी कुमारप्पा इतने दुबले हो गये थे कि गांधीजी उन्हें बहुत निकट आने पर ही पहचान सके। गांधीजी ने कुमारप्पा का अपने स्वाभाविक विनोदपूर्ण ढंग से स्वागत किया और बोले, "कुमारप्पा, तुम मूर्तिमान् धोखा हो। तुमने सारे डॉक्टरों को धोखा दे डाला है।"

कुमारप्पा ने अपने जेल के जीवन में जो कुछ लिखा और पढ़ा, उसके परिणामस्वरूप उनकी ये पुस्तकें तैयार हुईं १. ईसामसीह का व्यवहार और उपदेश, २. स्थायी समाज-व्यवस्था। जेल से छूटकर आने के बाद कुमारप्पा ने इन दोनों पुस्तकों की पांडुलिपियाँ गांधीजी को भेजीं। कुछ महीनों के बाद कुमारप्पाजी की ईसामसीह का व्यवहार और उपदेश संबंधी पाण्डुलिपि गांधीजी की भूमिका के साथ वापस मिली। भूमिका जिस लिफाफे के अन्दर बन्द थी, उस पर कुमारप्पा के नामोल्लेख में डॉक्टर कुमारप्पा, डी० डी० लिखा हुआ था। डी० डी० का अर्थ धर्म-शिक्षा के महान् विद्वान् (Doctor of Divinity) होता है। यह डिग्री पश्चिम में पादरियों को धर्मशास्त्र-संबंधी खोजपूर्ण अध्ययन के लिए दी

जाती है। कुछ समय के बाद उन्हें दूसरी पुस्तक की पाण्डुलिपि गांधीजी की भूमिका के साथ प्राप्त हुई। उसके लिफाफे पर लिखा हुआ था डॉ० कुमारप्पा, डी० वी० आई०। पहले तो कुमारप्पा इसका अर्थ नहीं समझे, फिर भूमिका पढ़ने के बाद स्पष्ट हुआ कि गांधीजी द्वारा प्रदान की गयी नयी डिग्री का आशय ग्रामोद्योगों के महान् निष्णात (Doctor of Village Industries) है।

कुमारप्पा ने समझा कि ये दोनों डिग्रियाँ भी गांधीजी की विनोदपूर्ण मनोवृत्ति की संतति हैं। इसलिए प्रेस में देने के पहले उक्त भूमिकाओं को संशोधन के लिए गांधीजी के पास वापस भेज दिया। गांधीजी ने जवाब में लिखा, "मैंने जो कुछ लिखा है, सोच-समझकर लिखा है। भूमिका में एक शब्द भी इधर-उधर होनेवाला नहीं है। यह ज्यों-का-त्यों प्रेस में जायगा।"

बाद में जब गांधीजी और कुमारप्पा मिले तो कुमारप्पा ने शिकायत की कि आप हर किसीको डॉक्टर की डिग्री दे डालते हैं और दूसरी बात यह है कि आप नयी-नयी डिग्रियाँ अपने मतलब के लिए गढ़ भी लेते हैं। गांधीजी हँसे और बोले, "आप मेरे डिग्री देने या नयी डिग्रियाँ गढ़ने के अधिकार को चुनौती कैसे दे सकते हैं? क्या मैं राष्ट्रीय विद्यालय (गुजरात विद्यापीठ) का कुलपति नहीं हूँ?"

दिसम्बर १९४७ में देश के सभी प्रान्तों के राजस्व-मंत्रियों का सम्मेलन दिल्ली में हुआ, जिसके परिणामस्वरूप श्री कुमारप्पा की अध्यक्षता में कृषि-सुधार-समिति का गठन किया गया। अध्यक्ष की हैसियत से कुमारप्पा ने देश का व्यापक दौरा किया और बहुत परिश्रम के साथ रिपोर्ट तैयार की। यह रिपोर्ट कांग्रेस महासमिति के द्वारा 'कांग्रेस कृषि-सुधार-समिति की रिपोर्ट' इस शीर्षक से स्वीकृत हो चुकी है। इसकी सिफारिश इतनी क्रान्तिकारी और व्यापक रूप से परिवर्तनकारी थी कि केन्द्रीय तथा राज्य की सरकारों को, जो कि कांग्रेस दल की थीं, इसका स्पर्श तक करने की हिम्मत नहीं हुई।

'ईसामसीह का व्यवहार और उपदेश' नामक पुस्तक की भूमिका में गांधीजी ने लिखा, "मैं इस पुस्तक के अध्ययन की सिफारिश ईश्वर में आस्था रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति से कर सकता हूँ, चाहे वह ईसाई हो अथवा अन्य किसी धर्म का माननेवाला; ईश्वर के पुत्र ईसामसीह के सम्बन्ध में कुमारप्पा का दृष्टिकोण क्रान्तिकारी है।"

निश्चय ही कुमारप्पा का सन्देश भारत की सीमाओं के बाहर के लिए भी है। पश्चिम यद्यपि नाम के लिए ईसाई है, पर धर्मशास्त्रों में वर्णित वास्तविक ईसामसीह को नहीं जानता है। इस विश्वास में जीवित श्रद्धा से उत्पन्न दृढ़ता के साथ कुमारप्पा अपना विचार प्रकट करते थे। गांधीजी ने कुमारप्पा की धर्मशास्त्र-संबंधी व्याख्या का भी अपने अनुभव के आधार पर समर्थन किया।

'इकॉनॉमी आफ परमानेन्स' (स्थायी समाज-व्यवस्था) की भूमिका में गांधीजी ने लिखा है, "ईसामसीह का व्यवहार और उपदेश की भाँति ही 'स्थायी समाज-व्यवस्था' भी जेल में लिखी गयी पुस्तक है। पहली पुस्तक की तरह समझने में उतनी सरल नहीं है। उसे पूरी तरह समझने के लिए सावधानी से दो-तीन बार पढ़ना आवश्यक है। जब मैंने उसकी पाण्डुलिपि को हाथ में लिया तो उसमें क्या होगा, इसे जानने के लिए मैं उत्सुक था। पहले अध्याय ने ही मेरी उत्सुकता को तृप्त कर दिया और फिर तो मैं बिना थकावट के, पर लाभ के साथ, पढ़ता चला गया।"

इसके पश्चात् जब भारत सरकार ने योजना-आयोग की स्थापना की तो कुमारप्पा को इसके सलाहकार मण्डल का सदस्य बनाया गया। सलाहकार मण्डल की बैठकों में जब कुमारप्पा ने भाग लिया तो राष्ट्र के योजनाकारों और रचनात्मक कार्यकर्ताओं के बीच दृष्टिकोण का जो मूलगामी अन्तर था, वह और भी उभरकर सामने आ गया और जिस तरह से कांग्रेस की योजना-समिति में कुमारप्पा समय गँवाना बेकार समझकर हट गये थे, उसी तरह योजना-आयोग से भी वे अलग हो गये। कृषि-सुधार-कमेटी के अध्यक्ष

के रूप में कुमारप्पा का ध्यान कृषि-ग्रामोद्योग समन्वित अर्थव्यवस्था की आवश्यकता और महत्त्व पर अधिकाधिक केन्द्रित होता गया। कुमारप्पा ने स्वयं इस दिशा में प्रयोग करने का विचार किया और इसके लिए ५९ वर्ष की अवस्था में अखिल भारत ग्रामोद्योग-संघ से अवकाश लिया और वर्धा से २० मील दूर शेल्डोह नामक ग्राम में १८ मई १९५१ में पन्नयी-आश्रम के नाम से कृषि-ग्रामोद्योग केन्द्र की स्थापना की। इसकी उन्होंने योजना बनायी और इसे अहिंसक लोकतंत्र के लिए एकात्मक आधार का प्रयोग माना।

इसके पहले ही, गांधीजी के देहावसान के बाद, कांग्रेस के अध्यक्ष डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने उन्हें दिल्ली बुलाया और कहा, "आपको गांधी स्मारक-निधि के निर्माण के संबंध में सलाह करने के लिए बुलाया है।" लगभग दस व्यक्ति, जिनका गांधीजी से निकटतम संबंध रहा था, इस विषय में चर्चा के लिए बुलाये गये थे। यह भी विचार था कि कुमारप्पा इस काम की स्वयं जिम्मेदारी उठायें।

गांधीजी की स्मृति किस प्रकार चिरस्थायी रखी जाय, इसके संबंध में भी कुमारप्पा के विचार बड़े क्रान्तिकारी थे। उन्होंने कहा, "हमारे देश में जनता की सरकार है। इसलिए उनकी पूर्ति सरकार के द्वारा अपने आर्थिक साधनों से हो सकती है। स्मारक के लिए रुपया इकट्ठा करने में जो शक्ति लगायी जायगी, उसका अच्छा उपयोग रचनात्मक कार्यों में लगाने से होगा। गांधीजी के कार्यक्रमों को रुपये की कमी नहीं रही। सबसे बड़ी कमी कार्य-कर्ताओं की है।" कुमारप्पा का विचार था कि "गांधीजी की स्मृति में खड़ी की गयी सबसे बड़ी निधि व्यक्ति की है। हमें उचित व्यक्तियों की निधि तैयार करनी चाहिए। जब सम्पूर्ण और त्यागवृत्तिवाले लोग निकलेंगे, तो वे गांधीजी के प्रकाश को फैलाते हुए देश में घूमेंगे और वे ही अहिंसक विचार के श्रेष्ठ प्रतिनिधि होंगे। गांधीजी का सच्चा स्मारक वह होगा, जो व्यक्ति की विराट् तथा छिपी हुई युवा शक्ति को अपने दायरे में ला सके और उसे शान्ति और समन्वय के मार्ग पर मोड़ सके।"

कुमारप्पा का सुझाव था कि अहिंसा और सत्य के आदर्शों से ओतप्रोत ऐसे स्त्री-पुरुषों की सेना की हमें आवश्यकता है, जो गांधीजी के आदर्शों का केवल शब्दों द्वारा नहीं, बल्कि अपने दैनिक जीवन द्वारा प्रतिपादन करते हुए दुनिया में घूम सके।

कुमारप्पा का सुझाव था कि यह मानवीय निधि एक लाख व्यक्तियों की निश्चित की जाय और इसके लिए स्वयंसेवक एकत्रित किये जायँ।

जब उनसे यह पूछा गया कि वे इस प्रकार की निधि का संचालन किस प्रकार करेंगे तो उन्होंने बताया कि "मैं सबसे पहले इस निधि के लिए तीन दाता चाहता हूँ और वे श्री जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल और श्रीमती राजकुमारी अमृतकौर हों। सरकारी पदों से दिये गये उनके त्यागपत्र इस निधि के सर्वप्रथम दानपत्र होंगे। श्री जवाहरलाल नेहरू कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में जायँ, गांधीजी के काम के लिए नौजवान जमा करें। राजकुमारी अमृतकौर महिला-कॉलेजों में जाकर यही काम करें और सरदार पटेल गुजरात विद्यापीठ जैसी संस्थाओं का संगठन करें। अगर ऐसा किया जा सके तो वह गांधीजी के आदर्शों के अनुकूल होगा और यही गांधीजी का उपयुक्त स्मारक होगा।"

कहना न होगा कि कुमारप्पा के ये क्रान्तिकारी सुझाव किसीको मान्य नहीं हुए और कुमारप्पा निराश और दुःखी होकर वापस लौट गये। अगर उन तीनों ने कुमारप्पा का सुझाव मान लिया होता तो न केवल दस-बारह करोड़ रुपये प्राप्त होते, बल्कि शायद इस देश का इतिहास ही दूसरा होता। लेकिन विधि का विधान कुछ अलग ही था। इसलिए कुमारप्पा के सुझाव अरण्य-रोदन ही साबित हुए।

१९४९ के मध्य में ही उन्होंने लिखा, "अंग्रेज यहाँ से चले गये हैं, लेकिन उन्होंने अंग्रेजी परम्परा की जड़ जमा दी है, विलासिता इसका चिह्न है। उत्पादन का परिणाम और उसकी गुणवत्ता यदि जीवन-स्तर में वृद्धि के साथ मेल नहीं खाती, तो वह राष्ट्र के अस्वास्थ्य का चिह्न है। अगर उपयोग सुविधा और विलासिता की तरफ बढ़ता जाय और उत्पादन तथा उत्पादक

बिछुड़ते चले जायँ, तो खतरे का सामना करना होगा। यह हालत हमारे देश में होती जा रही है। इसका सबसे स्पष्ट प्रमाण देश की राजधानी नयी दिल्ली में देखा जा सकता है। हिन्दुस्तान की तस्वीर फटे कपड़े और भूखे पेटवाले उस भिखारी जैसी है, जो अपने बटन के छेद में फूल लगाकर इतराता हो। यार्क रोड का भवन प्रधानमंत्री के लिए पर्याप्त नहीं था। उन्हें प्रधान सेनापति के महल में जाकर रहना उचित लगा। मंत्री एक-दूसरे के साथ सुविधाओं की होड़ में पड़े हैं और उद्यान-भोज देते हैं। लेकिन अगर यह पूछा जाय कि उन्होंने गरीब भारतीय नागरिक को क्या फायदा पहुँचाया, तो उत्तर नकारात्मक ही मिलेगा। हमें लगता है कि यह संकेत जारशाही रूस के आखिरी जमाने की हालत की याद दिला देगा। हमारी आशा और प्रार्थना इतनी ही है कि यह स्थिति भारत में उसी प्रकार के परिणाम की सूचक न हो, क्योंकि क्रान्तियाँ एक सिरे पर शाही शान-शौकत और दूसरे सिरे पर नितान्त आवश्यकता और गरीबी में से ही पैदा होती हैं।"

कुमारप्पा स्वभाव से ही बहुत भावनाशील व्यक्ति थे। जैसा सोचते थे, जैसा सही मानते थे, वैसा स्वयं जल्दी करना चाहते थे और दूसरों से करवाना चाहते थे, लेकिन इन तीनों का सामञ्जस्य, जैसा कि स्वाभाविक है, बहुत ही कम बैठ पाता है। इसलिए उनके मन पर खीझ, निराशा, दुःख और तनाव की स्थिति अक्सर तीव्रता से बनी रहती थी। इसके कारण उनका स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया था। लम्बे जेल-जीवन ने भी उनके स्वास्थ्य को तोड़ दिया था। इसके साथ ही जो काम उनके द्वारा किये गये, उनमें परिश्रम भी बहुत पड़ा। परिणाम यह हुआ कि १९५१ में पन्नयी-आश्रम के नवनिर्माण ने उनके स्वास्थ्य को बिलकुल समाप्त कर दिया और उनको आश्रम से तथा सक्रिय जीवन से ही अवकाश ले लेना पड़ा और कालूपट्टी के गांधी निकेतन आश्रम में वे विश्राम के हेतु चले गये। ●

ग्यारह

•

अहिंसक लोकतन्त्र की दिशा में

कुमारप्पा ने अप्रैल १९५१ की ग्रामोद्योग-पत्रिका में लिखा था, :

"अगर हमारा देश सच्चे लोकतन्त्र को अपना ध्येय बनाता है तो यह ऐसी स्वावलम्बी इकाइयों से बना हुआ होगा, जो अपनी प्रारम्भिक आवश्यकताओं की स्वयं ही व्यवस्था कर सके। हरएक गाँव को सभ्य जीवन के लिए आवश्यक सभी वस्तुओं के उत्पादन का प्रयास करना होगा—संतुलित भोजन, पर्याप्त वस्त्र और संतोषजनक आवास; गाँव में से कोई भी वस्तु बाहर न जाने दी जाय, अगर एक व्यक्ति को भी उसकी आवश्यकता हो। व्यापार केवल अतिरिक्त वस्तु का ही होना चाहिए।" यह किस प्रकार हो सकता है, इसकी योजना भी उन्होंने लोगों के सामने रखी। वह योजना भी इसी पत्रिका के उसी अंक में प्रकाशित हुई है।

समस्या क्या है, इसका विवेचन करते हुए कुमारप्पा ने लिखा है, 'हमारे देश में सब जगह उत्पादन और दरिद्रता दोनों साथ-साथ चलते हैं। दूसरी बात यह है कि उपयोग और सुख समाज के उच्च वर्गों तक ही सीमित है। वास्तविक उत्पादकों को अभाव का ही सामना करना पड़ता है। यह भी देखा जाता है कि आवश्यक वस्तुओं की जो कीमतें दी जाती हैं, वे विलास की वस्तुओं के लिए दी जानेवाली कीमतों से तुलनात्मक रूप में कम होती हैं। लोकतन्त्र और न्याय को ध्येय मानकर चलनेवाली दुनिया में ये विषमताएँ आश्चर्यजनक हैं, इसके लिए हमें खोज करके यह पता लगाना है कि कठिनाई कहाँ पर है। इसके लिए प्रयोग करने की आवश्यकता है।"

कुमारप्पा का विचार था कि ऐसा करने के लिए हमें खेती का और फसलों का ऐसा कार्यक्रम बनाना होगा, जो जीवन की प्रारम्भिक आवश्यकताओं–जैसे : भोजन, वस्त्र, आवास, रोशनी और आधुनिक आवश्यकताओं–जैसे : शिक्षण, सफाई और स्वास्थ्य की पूर्ति कर सके। उनका मानना था कि हमारा उत्पादन अपने स्वाभाविक अनुपात में इन आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाला होना चाहिए। हमारी फसल की योजना में उन मानवीय मूल्यों का ध्यान रखते हुए, जिनकी पूर्ति उन्हें करनी है, हमें अपने साधनों का विवेकपूर्ण उपयोग करना चाहिए। इस प्रकार का कार्यक्रम प्रयासपूर्वक तथा वैज्ञानिक आधार पर अगर गाँव में चलाया जाय, तो उससे हमें राष्ट्रीय फसल-योजना को आवश्यक आधार प्राप्त हो सकेगा और उसके जरिये हम अपने क्षेत्रों का स्वावलम्बन न केवल खाद्य-संबंधी भाग में, बल्कि जीवन के सभी भागों में प्राप्त कर सकेंगे। संतुलित कृषि के इस प्रयोग के लिए उन्होंने एक लाख रुपये लागत का बजट सर्व सेवा संघ के सामने रखा। उसकी रूपरेखा इस प्रकार थी :

लगभग २०० एकड़ जमीन, जिसमें अच्छी-बुरी-मध्यम, सभी तरह की जमीन हो, २५ हजार रुपये। १६ बैल और ५ गायें, १० हजार रुपये। कुएँ तथा अन्य विकास-कार्य–७५०० रु०। खाद्य शोधन-उद्योग, जैसे : घानी आदि २५०० रु०। मकान, शेड आदि २५ हजार रुपये। पूँजी तथा विविध ३० हजार रुपये। कुल १ लाख रुपया।

यह एक तरह से सारे देश में ग्राम-पुनर्निर्माण के कार्य को स्वावलम्बी आधार देने का, खासकर खेती के क्षेत्र में, एक मौलिक सुझाव था। यह योजना कुमारप्पा ने अखिल भारत सर्व सेवा संघ के सामने रखी और उसने इस योजना को स्वीकार किया। वर्धा से २० मील दूर वर्धा-नागपुर सड़क पर लगभग ७०० लोगों की बस्ती के शेल्डोह गाँव को इस प्रयोग के लिए चुना गया, जहाँ पन्नयी-आश्रम के नाम से इस प्रयोग का उद्घाटन आचार्य कृपालानी द्वारा १८ मई १९५१ को हुआ। पन्नयी का अर्थ तमिल भाषा में खेती होता है।

४ जुलाई १९५१ को आश्रम की जमीन में कुआँ खोदने का शुभारम्भ कुमारप्पा ने अपने हाथों से किया। आरम्भ से कुमारप्पा और उनके साथी गाँव में ही रहे और वहीं से कार्य की शुरुआत हुई। इस अवसर पर गाँव के लोगों ने आश्रम के स्थान पर झोपड़ी बनाने के लिए टीन की कुछ चद्दरें उन्हें भेट की। कुमारप्पा ने उक्त भेट को अस्वीकार कर दिया और गाँववालों को समझाया कि टीन खनिज वस्तु है और इसलिए उसका परिमाण सीमित है। इस प्रकार सीमित परिमाण की वस्तुओं का उपयोग अन्त में हिंसा को लाता है और जिस हद तक हम इनका उपयोग करते हैं, हम दुनिया के युद्धों में साझीदार बन जाते हैं। उन्होंने यह भी स्पष्टीकरण किया कि इस प्रकार की मिल की बनी चीजों के वजाय ईंटों और खपरैल जैसी ग्राम की वस्तुओं को काम में लिया जाय। मिल की बनी इन वस्तुओं का उपयोग पेड़ की उसी शाखा को काटने जैसा है, जिस पर हम खड़े हैं। हम पुर्ननिर्माण के लिए गाँव में जायँ, तो हमें ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिए, जो उसके विकास का एक अंग न हो। उन्होंने कुआँ खोदने और आम का पेड़ लगाने का उदाहरण देते हुए बतलाया कि हमें केवल तुरन्त लाभ पहुँचानेवाली बातों पर ही ध्यान नहीं देना चाहिए, बल्कि दूर दृष्टि से सारे समाज को लंबे समय में लाभदायक होनेवाले काम में भी भाग लेना चाहिए।

आश्रम में कुल मिलाकर १८५ एकड़ जमीन थी। इस जमीन को विभिन्न भागों में इस दृष्टि से बाँटा गया, जिससे आश्रमवासियों को संतुलित आहार दे सकनेवाली विभिन्न फसलें समुचित परिमाण में उगायी जा सकें। कुमारप्पा के शब्दों में, "जहाँ तक सम्भव हो, हम वे चीजें उगाना चाहते थे, जो आवश्यक थीं और जिस अनुपात में आवश्यक थीं, जैसे-स्टार्च, फैट, प्रोटीन, साग-भाजी और केला। जहाँ अतिरिक्त उत्पादन रहा, वहाँ हमारी योजना पड़ोसियों से विनिमय करने की थी। इसमें हमारा ध्येय अर्थ-विनिमय की अर्थव्यवस्था को कम करने, अर्थ कम रखने और स्वावलम्बन के निकट पहुँचने का रहा। कूड़े-कचरे की खाद बनाने का काम भी किया

गया। खाद-संबंधी प्रयोग और प्रदर्शन के लिए एक एकड़ जमीन का टुकड़ा अलग रख दिया गया। नागपुर के बायोकेमिस्ट से यह व्यवस्था भी की गयी कि विभिन्न प्रकार की ' , न्न प्रकार के खाद से उगायी जाती ह, उनके पोषक तत्त्वों : तुलनात्मक अध्ययन किया जाय।

"दूध के उत्पादन : पशुपालन का विचार भी किया गया। खादी-ग्रामोद्योग चालू करने : गाँव में से मिल की सारी वस्तुओं को हटाने की आशा भी थी। आन्तरिक विनिमय का भी हिसाब स्वैच्छिक वस्तुओं की अदलाबदली के द्वारा, जो उत्पादन-व्यय पर आधारित थी, किया गया।

"उत्पादन-व्यय में इस बात का पूरा ख्याल रखा गया कि आश्रम में रहनेवाला जो उत्पादक है, उसके लिए आवश्यक सभी वस्तुओं की पूर्ति हो सके और वह पूरे वर्ष सुविधापूर्वक रह सके। चूँकि बाजार-व्यवस्था नियंत्रित नहीं थी, इसलिए स्वैच्छिक आधार रखकर ही समाज के सहयोग से इसे करने का प्रयत्न किया गया।

"सामाजिक दृष्टि से हमारी यह योजना बुनियादी तालीम, पशुओं और मनुष्यों के लिए चिकित्सा-सहायता और ग्रामसुधार की थी। सामुदायिक जीवन की दिशा में भी प्रयास किया जाने को था। राजनैतिक क्षेत्र में हम स्वशासन का संगठन करना चाहते थे और आर्थिक तथा सामाजिक नियंत्रण की व्यवस्था लोक-शिक्षण के द्वारा एक आमसभा का संगठन करके की थी, जिसमें गाँव की स्त्रियाँ भी वहुत उत्साह से भाग लेती थीं। आश्रम के पहले दो वर्ष अधिकतर जमीन को साफ करने, जंगल काटने, जमीन को खेती के लिए तैयार करने में चले गये, फिर भी इस अरसे में वहुत-से उपयोगी अनुभव आये।"

जब कुमारप्पा शेल्डोह में थे, तब वर्धा से नागपुर जाते हुए प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू यहाँ कुछ समय के लिए ठहरे थे। श्री कुमारप्पा ने उनके लिए एक पेय की व्यवस्था की थी। कुमारप्पा ने स्वदेशी की व्याख्या श्री नेहरू को समझाते हुए कहा, "यह जो काफी आप पी रहे हैं वह पूर्णतया स्वदेशी है। जिस ट्रे में रखकर लायी गयी है वह स्थानीय मिट्टी से बनायी

गयी है। जिस प्याले में यह आपके सामने प्रस्तुत है वह स्थानीय वस्तु से यहीं पर तैयार किया गया है। जो काफी आप पी रहे हैं वह स्थानीय अर्जुन वृक्ष की छाल को भूनकर तैयार की गयी है। इसमें जो दूध काम में लाया गया है वह स्थानीय गोशाला की गायों का है। जो शक्कर काफी में लगी है वह स्थानीय ताड़ के रस से यहीं तैयार की गयी है। इसीका नाम स्वदेशी है।" श्री नेहरूजी के मन पर उसकी क्या प्रतिक्रिया हुई यह तो पता नहीं, पर श्री कुमारप्पा ने एक मित्र और शिक्षक की हैसियत से स्वदेशी का पदार्थ-पाठ दुनिया के सामने रख दिया।

किन्तु इसी बीच इस प्रयोग को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। श्री कुमारप्पा को इसी अवधि में रूस, चीन और जापान की यात्राओं पर जाना पड़ा। इन यात्राओं से, वे साम्यवादी देशों में भूमि-संबंधी तथा अनेक समस्याओं का जिस प्रकार से समाधान किया गया और उसका जो परिणाम निकला, उसके लिए बहुत उत्साह लेकर लौटे। उन्होंने अपने भाषणों में यद्यपि साम्यवादी सिद्धान्त और साम्यवादी पद्धति का बराबर विरोध ही किया, किन्तु उन देशों के कामों और प्रवृत्तियों में जो अच्छाइयाँ और सु-परिणाम उन्हें दिखायी दिये, उनका उन्होंने खुले दिल से समर्थन किया। देश के साम्यवादी क्षेत्रों में उनके इस दृष्टिकोण का स्वागत हुआ, पर सर्वोदय के क्षेत्र में कहीं-कहीं उनके दृष्टिकोण को ठीक नहीं माना गया और गांधीवादी कम्युनिस्ट कहकर कहीं उनकी प्रशंसा हुई तो कहीं उनका कड़ा विरोध हुआ। वह विरोध इस सीमा तक पहुँचा कि जब उन्होंने फिर इस अभिनव और महान् प्रयोग के लिए एक लाख रुपये का बजट सामने रखा तो उसे सर्व सेवा संघ का समर्थन नहीं मिला। कहा जाता है कि हिसाब और रिपोर्ट आदि समुचित रूप में तैयार करके न रखे जाने के कारण भी यह कठिनाई पैदा हुई। एक दूसरा बड़ा कारण यह भी था कि शेल्डोह आश्रम के प्रयोग में उन्होंने जो कार्यकर्ता रखे थे वे रुपयों में वेतन के आधार पर नहीं, बल्कि आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति के आधार पर रखे थे। कार्यकर्ताओं को केवल ५ रुपये मासिक नकद, विविध खर्च के

लिए, दिये जाते थे। इस आधार पर बहुत ही कम संख्या में कार्यकर्ता उनके इस प्रयोग में शामिल हो सके। तीसरी बात यह भी हुई कि उस नये पहाड़ी और जंगली क्षेत्र में मलेरिया का भी भीषण प्रकोप रहा और आश्रम के एक महत्त्वपूर्ण कार्यकर्ता श्री कृष्णचन्द्र दुबे इसी बीमारी से १९५३ में मृत्यु को भी प्राप्त हो गये।

इन सबसे बड़ा कारण यह था कि कुमारप्पा उच्च रक्तचाप से पीड़ित थे और यद्यपि १९५३ में उन्होंने सक्रिय जीवन से अवकाश ले लिया था, पर पन्नयी-आश्रम के कार्य को अपनी देख-रेख में चलाने का कार्य जारी रखा था। लेकिन अगले वर्ष ही वे हृदय-रोग के भी शिकार हो गये और डॉक्टरों ने उन्हें इस काम के लिए भी मना किया, अतः दिसम्बर १९५४ में उन्होंने उस प्रयोग से अपना हाथ खींच लिया। परिणाम यह हुआ कि पन्नयी-आश्रम हिन्दुस्तानी तालीमी संघ को सौंप दिया गया और उक्त प्रयोग एक तरह से समाप्त ही हो गया।

कुमारप्पा ने आश्रम के कार्य से बिदा लेते हुए लिखा था, "मेरी यह हार्दिक आशा है कि इस प्रकार के प्रयोग मेरे मुकाबले में अधिक नौजवान लोगों के द्वारा किये जायेंगे। इस प्रकार के प्रयोग से ही वह रूपरेखा स्पष्ट होगी, जिसके आधार पर अहिंसक लोकतंत्र का गठन करना होगा। हमें ऐसी जीवन-पद्धति को खोजना है, जो शोषण के बजाय सहयोग और सद्-भाव पर आधारित हो, तभी मानव-जाति जीवित रह सकती है। हिंसा कभी हमारी समस्या का समाधान नहीं कर सकती।"

●

बारह

विदेश की यात्राएँ

१९४७ की १० जुलाई को कुमारप्पा के जीवन में विदेश-यात्राओं का तीसरा दौर आरम्भ होता है। पहला दौर अध्ययन-काल में शुरू हुआ था, जब वे इंग्लैण्ड गये थे और वहाँ उन्होंने इनकारपोटेड एकाउण्टेण्ट के रूप में प्रशिक्षण प्राप्त करके कार्यारम्भ किया था। दूसरा दौर १९२७ में शुरू हुआ, जिसमें वे अमेरिका रहे। तीसरे दौर में उनकी यात्रा यूरोप और एशिया की हुई। इस दौर में पहले-पहल लन्दन में होनेवाले जहाजरानी के एक सम्मेलन में एक प्रतिनिधि-मंडल के आर्थिक सलाहकार होकर गये थे। इंग्लैण्ड में कुमारप्पा ने वहाँ की युद्धोत्तर स्थिति का अध्ययन किया और लोगों के दृष्टिकोण और जीवन-पद्धति में जो परिवर्तन आया था, उसकी जानकारी प्राप्त की। उन्हें लगा कि इंग्लैण्ड के लोगों को भी प्रारम्भिक आवश्यकताओं में स्वावलम्बन के महत्त्व का भान हुआ है। इस यात्रा में उनका सम्पर्क इंग्लैण्ड के शान्तिवादियों से हुआ और वहाँ के प्रसिद्ध शान्तिवादी साप्ताहिक 'पीस न्यूज' ने कुमारप्पा के विचारों को उत्साहपूर्वक स्थान दिया। अगले वर्ष युद्ध-विरोधी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन (International Conference against War) सूसबरी में हुआ और कुमारप्पा उसमें प्रतिनिधि के रूप में शामिल हुए।

१९५१ की १३ सितम्बर को जब वे शेल्डोह में थे तो उन्हें सद्भावना-मण्डल के सदस्य के रूप में चीन के स्वाधीनता-दिवस समारोह में शामिल

होने का निमन्त्रण प्राप्त हुआ। कुमारप्पा अपना प्रयोग छोड़कर जाने के इच्छुक नहीं थे। पर मगनवाड़ी के साथियों ने चीन की भूमि-समस्या के अध्ययन की दृष्टि से वहाँ जाने का आग्रह किया। चीन की यात्रा के बाद उन्हें जापान भी जाना था, जहाँ मुख्यत: ग्रामोद्योगों, ग्राम-पुर्ननिर्माण और कुटीर तथा छोटे पैमाने के उद्योगों का अध्ययन करना था। कुमारप्पा २० तारीख को दिल्ली से पीकिंग के लिए रवाना हो गये।

हांगकांग पहुँचकर वे अपनी दैनिक आदत के अनुसार प्रातःकाल वहाँ की गरीव बस्तियों में घूमने के लिए निकले। उनका ख्याल था कि उन्हें, जैसा यहाँ होता है, गन्दगी और धूल, मछली और मांस के बाजार और साग-सब्जियों की दूकानें वहाँ देखने को मिलेंगी। कुमारप्पा को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वहाँ न मक्खी थी, न कौआ और न चील, न वहाँ पाखाने थे और न कहीं गन्दगी के ढेर दिखायी दिये। वहाँ सूखी मछली की गन्ध के अतिरिक्त कुछ नहीं दिखाई दिया। कैन्टन जाते समय जहाज के मुख्य अधिकारी ने कुमारप्पा से कहा, "हम कैन्टनवासी या पेकिंगवासी इसकी कुछ परवाह नहीं करते। हरएक आदमी काम करता है और खाता है। भारत में भी कलकत्ता या बम्बई या मद्रास ऐसा कुछ अलग-अलग नहीं होना चाहिए। सारा भारत एक होना चाहिए, तभी सब समृद्ध और सुखी होंगे।"

कुमारप्पा अपनी पूरी यात्रा में जहाँ भी जाते थे, सुबह उठकर तंग बाजारों में और गलियों में बराबर जाते थे। सब जगह कुमारप्पा को सफाई का स्तर बहुत ऊँचा मिला।

चीन में स्त्री-पुरुष नीले रंग की पोशाक में नजर आते थे। स्वाधीनता-दिवस के राष्ट्रीय भोज का जिक्र करते हुए कुमारप्पा ने लिखा है कि सारा प्रसंग सुन्दर था, लेकिन बहुत सादा था। सभी मेहमान कामकाजी पोशाक में थे। केवल हमारा प्रतिनिधि-मण्डल ही राष्ट्रपति-भवन की परम्परा में अपनी तड़क-भड़क का प्रदर्शन कर रहा था। वहाँ यह सब मूर्खतापूर्ण लगता था।

१ अक्तूबर के समारोह और अध्यक्ष माओ के सामने मार्च पास्ट का जिक्र करते हुए कुमारप्पा ने वर्णन किया है, "हम लोग साढ़े नौ बजे से लेकर

चार बजे तक मुख्य स्थान पर खड़े रहे। भूमि, जल तथा वायु सेनाओं को डेढ़ घण्टा गुजरने में लगा। उसके बाद मजदूर, उसके बाद कार्यकर्ता, रेलवे व उद्योगों के मजदूर, किसान, ग्रामीण, स्कूल-कॉलेज के विद्यार्थियों ने मार्च पास्ट किया। पर सब कुछ व्यवस्थित तथा अनुशासनपूर्ण था। उनका उत्साह असीम था।"

भारत और चीन की तुलना करते हुए कुमारप्पा ने लिखा है, "इस भावना से युक्त लोग कभी गुलाम नहीं होंगे। इस तुलना में भारत पीछे मालूम होता है। हम लोगों का यह सोचना मूर्खतापूर्ण लगता है कि भारत पूर्वीय देशों का नेतृत्व करता है। चीन हमसे बहुत आगे है। उनमें लक्ष्य की एकता और उसको प्राप्त करने की फौलादी दृढ़ता है। उनकी गति को कोई नहीं रोक सकता। हमारे सामने न एक उद्देश्य है, न लक्ष्य और हममें सहनशीलता की भी कमी है। वहाँ मूलभूत आवश्यकता की अन्य वस्तुएँ भी बहुत कम कीमत पर मिलती हैं। निश्चय ही वहाँ मुद्रा-स्फीति है। लेकिन सरकार ने उस पर काबू पाने के रास्ते निकाले हैं। प्रशासन विवेक-पूर्ण है तथा उसे जनता का हार्दिक समर्थन प्राप्त है। सब लोग एक ही तरह के कपड़े पहनते हैं और एक जैसे ही रहते हैं। सबसे ऊँचे और सबसे नीचे में बहुत कम अन्तर है।" चीन की परिस्थिति का विश्लेषण करने के बाद इस देश से तुलना करते हुए कुमारप्पा ने लिखा है, "जिस प्रकार चीन का आदर्श साम्यवाद की स्थापना है, उसी प्रकार हम लोग भी रामराज्य की दिशा में काम कर रहे हैं। हम अभी तक मध्यमवर्गीय तानाशाही की स्थिति से आगे नहीं बढ़े हैं। हम विदेशी मध्यमवर्गीय तानाशाही से निकल आये हैं और राष्ट्रीय मध्यमवर्गीय तानाशाही में रह रहे हैं। इसे लोकतांत्रिक तानाशाही का स्थान देना होगा। इसके बाद दो और स्थितियों में से हमको गुजरना पड़ेगा।

"चीन के लोगों ने अहिंसक पद्धति के उपयोग का नहीं सोचा है, इसलिए वे गांधीवादी मार्ग से दूर हैं, लेकिन इस सबके बावजूद उनकी तीव्र देश-भक्ति अनुकरणीय है। उनकी उपलब्धियाँ सराहनीय हैं। उनका लक्ष्य

भी मुझे इस अन्तर के साथ सर्वोदय के निकट लगता है कि उसमें अहिंसा पर उतना जोर नहीं है, जितना हम देते हैं। हममें से कुछ लोग खूनी क्रांति में हुई हिंसा के उपयोग को देखकर आश्चर्यचकित हो जाते हैं। चीन ने हिंसा के उपयोग का त्याग नहीं किया है और राज्य की सारी पद्धतियों में हिंसा तो निहित है ही।" कुमारप्पा ने चीन के सम्बन्ध में उस समय यह आशा प्रकट की थी कि समय आने पर चीन के नेता इस बात को समझेंगे कि हिंसात्मक पद्धति, चाहे वह छोटा रास्ता लगे, दरअसल अन्त में किसी समस्या को हल नहीं करता। अगर उन्होंने अपना कार्यक्रम अहिंसा पर आधारित किया होता तो दुनिया के लिए उनका नेतृत्व कितना बड़ा होता! भारत के सम्बन्ध में जिक्र करते हुए कुमारप्पा का कथन था, "हमें चीन के प्रयोगों और उपलब्धियों से लाभ उठाना चाहिए और अपने देश की परिस्थितियों के अनुकूल अपनी समस्याओं का समाधान गांधीजी द्वारा किये गये अहिंसा और सत्य के तीव्र प्रयोगों से निकालना चाहिए।" सद्भावना-मण्डल के सदस्य के रूप में उन्होंने यह भी कहा कि हम अपनी मुक्ति के लिए प्रयत्नशील चीन की, उसके अपने प्रयासों में सफलता चाहते हैं।

भूमि-संबंधी समस्या के समाधान के बारे में उनकी यह टिप्पणी बहुत बहुमूल्य है, "उन्होंने भूमि-सुधार की समस्या के संबंध में यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया लगता है। उन्होंने सोवियत रूस का अन्धानुकरण नहीं किया है, लेकिन रूस के प्रयोग से महत्त्वपूर्ण पाठ सीखे हैं। वहाँ जमीन की सामुदायिक मालकियत नहीं है। आमतौर पर मालकियत व्यक्तिगत है, लेकिन जमीन के उपयोग का नियंत्रण कड़ाई से राज्य के द्वारा किया जाता है। निजी मुनाफा है, यद्यपि उसकी मात्रा कड़ाई से निश्चित कर दी गयी है। जमींदारी समाप्त कर दी गयी है। पर खेती करनेवाले धनी किसानों को स्पर्श नहीं किया गया है। अब तक किसान उपज का मुख्य भाग जमींदार को देते थे, वह रोक दिया गया है। उसका परिणाम यह है कि किसान को अपने परिश्रम का पूरा लाभ मिलता है। जमीन का कर उत्पादन का लगभग १३ प्रतिशत होता है और वह वस्तु में इकट्ठा किया जाता है।

यह महँगाई और मुद्रास्फीति से मुकाबला करने का महत्त्वपूर्ण चीनी कदम है। सरकार प्रशासकों, सैनिकों और अध्यापकों को वस्तु में अदायगी करती है।" कुटीर-उद्योगों के बारे में कुमारप्पा ने लिखा है, "प्रशासकों का झुकाव उनकी तरफ अनुकूल नहीं है, फिर भी वे चालू हैं।" उन्होंने इस बात की आशा प्रकट की कि केन्द्रीयकरण का यह पागलपन उस बड़ी संख्या को कठिनाई में नहीं डालेगा, जो अभी तक विकेन्द्रित उद्योगों में लगे हुए हैं। उन्हें इस बात का भी खेद रहा कि ग्राम-स्वावलम्बन, जो चीन का एक लक्षण रहा है, अब उसके समाप्त हो जाने का खतरा है।

चीनी लोगों के चरित्र का वर्णन करते हुए कुमारप्पा ने लिखा है, "चीन अपने को उबारने में समर्थ हुआ है। यह केवल सरकार द्वारा उठाये हुए कदमों का परिणाम नहीं है, बल्कि उसमें अधिक योग जनता के चरित्र का है। वे सामान्यतः धर्म में विश्वास नहीं करते, लेकिन सच्चे और ईमानदार हैं। मछली के बाजार से लेकर बड़े चेन स्टोर तक, सब जगह कीमतें निश्चित हैं। अगर हमारा देश गिरा हुआ है और पीछे है, तो इसका मुख्य कारण ऊपर से नीचे तक चरित्र की कमी है। चीन के लोगों की व्यवस्था तथा अनुशासन-शक्ति आश्चर्यजनक है। भारत में स्मरण-शक्ति और बौद्धिक समझदारी तथा व्यावहारिकता की कमी नहीं है।" चीन में कुमारप्पा ने हांग-कांग, कैन्टन, पीकिंग, मुक्डन, तेन्त सेंग, नानकिंग, शंघाई, हैन्चाउ आदि नगरों की यात्रा की और इस सारी यात्रा का रोचक वर्णन उन्होंने अपनी पुस्तक 'लोक चीन में मैंने क्या देखा और सीखा?' में किया है। चीन से कुमारप्पा जापान गये। वहाँ वे टोकियो, कोबे, योकोहामा आदि नगरों में जाने के अतिरिक्त हिरोशिमा भी गये।

जापान में उनको जो सबसे महत्त्वपूर्ण लगा, वह था जापान के जीवन का व्यवस्थित स्वरूप। उन्होंने लिखा है कि चाहे औपचारिक रूप से मिलने पर वे अभिवादन करें, कमरे में प्रवेश करें, चाहे चाय का प्याला दें, हर काम में एक स्वरूप, सुन्दरता और व्यवस्था है। ये गुण सामाजिक जीवन की पद्धति के कारण केवल ऊपरी रूप में प्राप्त नहीं है। ऐसा

लगता है कि यह उनकी आत्मा की व्यवस्था है। पश्चिम के देशों ने यह व्यवस्था सैनिक प्रशिक्षण द्वारा प्राप्त की है। चीन और जापान ने इसे सामाजिक धाराओं से प्रविष्ट कराया है, जब कि भारत ने व्यक्तित्व की पूर्ण व्यवस्था पर अत्यधिक बल देकर इसे सम्भवतः टाल ही दिया है। जापान में सामाजिक अनुशासन के साथ-साथ अब सैनिक अनुशासन भी जुड़ गया है और उसका वहाँ के आर्थिक जीवन पर बहुत असर पड़ा है।

कुटीर-उद्योगों की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा कि शिक्षा तथा सामाजिक प्रभाव के कारण राष्ट्र के रूप में जापान के लोगों में कुटीर-उद्योगों की वस्तुओं के लिए बहुत आकर्षण रहता है। उनके घर हाथ-कागज से सजाये जाते हैं, उनके आँगन चटाइयों से और खाने-पीने के बर्तन आमतौर पर चीनी के होते हैं। जूते भी वे लकड़ी, घास आदि के पहनते हैं। हमारे देश में हाथ-बनी चीजों के प्रति नफरत है, जब कि जापानियों की रुचि में अभी तक इतनी गिरावट नहीं आयी है। अगर हम अपने देश में कुटीर-उद्योगों को उन्नत करना चाहते हैं तो पहला काम इस प्रकार के उद्योगों से बनी वस्तुओं के लिए बढ़ते हुए बाजार का निर्माण करना है और इसके लिए हमें जापान के कलात्मक जीवन से सबक लेना होगा, हाथ की बनी चीजों की श्रेष्ठता को समझना होगा और जीवन को अधिक पूर्ण और समृद्ध बनाने में इनके योगदान की कद्र करना होगा। जापान के कुटीर-उद्योगों का, ग्रामीण तथा छोटे उद्योगों का जो अध्ययन कुमारप्पा ने किया और जो निष्कर्ष उन्होंने निकाले, वे बहुत महत्त्वपूर्ण थे। वे कुमारप्पा द्वारा तत्संबंधी रिपोर्ट में विस्तारपूर्वक दिये गये हैं। उनका मत था कि कोई भी उद्योग जापान से पूरा-का-पूरा और ज्यों-का-त्यों नहीं लाया जा सकता। हमें अपने देशवासियों की परम्पराओं, रीति-रिवाजों, वातावरण का सावधानी से अध्ययन करना होगा। प्रत्येक उद्योग को यहाँ की परिस्थितियों के अनुसार संशोधित करना होगा। उन्होंने यह भी कहा कि हमें जापान से बड़े पैमाने पर न यंत्र लाने की आवश्यकता है और न विशेषज्ञ। हमें अपने देश में ही उनका निर्माण करना होगा। निश्चय ही बहुत थोड़ी संख्या में, अपने कारीगरों

की कमी को दूर करने के लिए, नमूने के तौर पर कुछ लाया जा सकता है। इससे अधिक नहीं। हमें अपनी समस्याओं का समाधान अपने ढंग से ही करना होगा। यद्यपि यह तरीका धीमा हो सकता है, पर यदि जल्दी करेंगे तो अन्त में कठिनाई ही बढ़ेगी।

जापान का जिक्र करते हुए कुमारप्पा ने एक पत्र में लिखा कि बार-बार झुकना और नम्रता दिखाना मुझे चीन के सिर ऊँचा किये हुए पर हार्दिक सत्कार के मुकाबले में इतना कृत्रिम और ऊपरी लगता है कि मुझे चीन की याद सताने लगती है। टोकियो का जिक्र करते हुए उन्होंने लिखा, "उसका तो बहुत अधिक पश्चिमीकरण हो गया है। पहली रात को ही मुझे एक ऐसे होटल में ले गये, जहाँ मेरे सोने के कमरे में एक सूचना टंगी हुई थी, जिसका आशय था कि जापानी मुलाकातियों को अपने मेहमानों से सार्वजनिक मेहमानघर में नहीं, निजी सोने के कमरे में ही मिलने दिया जायगा। मैं तत्काल ही इस होटल को छोड़ना चाहता था, पर मुझे वह रात बितानी पड़ी। दूसरे दिन प्रातःकाल मैं दूसरे होटल में चला गया। यहाँ ऐसी टैक्सियाँ हैं, जिन पर विदेशियों की गाड़ी लिखा हुआ है। कोई जापानी उन टैक्सियों का व्यवहार नहीं कर सकता। ऐसी बसें भी खाली दौड़ती रहती हैं, जो अमेरिकी फौजों के लिए सुरक्षित हैं। कोई जापानी उन पर सवार नहीं हो सकता। हिन्दुस्तान में अंग्रेज भी कभी बुराई की इस सीमा तक नहीं पहुँचे थे।

१९५२ के मार्च में कुमारप्पा रूस गये। वहाँ मास्को में अर्थशास्त्रियों का अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन था। यह सम्मेलन ३ से ११ अप्रैल तक चला। उसके बाद वे लेनिनग्राद, ताशकन्द, फरगना, स्तालिनग्राद होते हुए वापस मजदूर-दिवस के समारोह में भाग लेने के लिए मास्को लौट आये और वहाँ से ताशकंद, काबुल होकर ११ मई को अहमदाबाद पहुँचे। दूसरी बार उसी वर्ष जुलाई में विश्व-शान्ति-सम्मेलन की असाधारण बैठक में शामिल होने के लिए बेबीलोन गये। यह बैठक २ जुलाई से ५ जुलाई तक चली। बैठक के बाद वे पूर्वी जर्मनी और चेकोस्लोवाकिया होते हुए १९ जुलाई

को वापस बम्बई लौट आये। तीसरी बार उसी वर्ष ७ दिसम्बर को बम्बई से रवाना होकर वे पेरिस गये और वहाँ से वियना, जहाँ वे विश्व-शान्ति-कांग्रेस में शामिल हुए। वहाँ से हंगरी होते हुए रूस चले गये। इस यात्रा से वे अगले वर्ष की २५ जनवरी को वापस लौटे। आखिरी बार कुमारप्पा १९५४ में २१ से २९ मई तक बर्लिन में चलनेवाले विश्व-शान्ति-सम्मेलन में शामिल हुए। सम्मेलन के पश्चात् वे पूर्वी जर्मनी और बुल्गेरिया गये और वहाँ से अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति-सम्मेलन में शामिल होने के लिए स्टाकहोम आ गये। स्टाकहोम से कापेनहेगन होते हुए वे लन्दन गये, जहाँ उन्होंने चार सप्ताह इंग्लैण्ड की यात्रा की और २८ जुलाई को युद्ध-विरोधी अन्तर्राष्ट्रीय-सम्मेलन में भाग लेने के लिए पेरिस चले गये और वहाँ से अगस्त मास के अन्त में लंका होते हुए वापस भारत आ गये।

उनकी इन यात्राओं में कुल मिलाकर लगभग ३२ हजार मील की यात्रा हुई और उसमें लगभग १५० दिन लगे। इन यात्राओं का रोचक वर्णन उन्होंने 'लौह आवरण के पीछे की एक झाँकी' नामक पुस्तक में किया है। साम्यवादी देशों के विवरण उसी समय न्यूनाधिक रूप में ग्रामोद्योग-पत्रिका तथा अन्य समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुए। इन लेखों से, जैसा स्वाभाविक था, कुछ लोगों के मन में कुछ गलतफहमियाँ भी पैदा हुईं और कुछ मित्र यहाँ तक भी कहने लगे कि कुमारप्पा अधिकाधिक साम्यवाद की ओर झुकते जा रहे हैं। एक ओर भारतीय साम्यवादियों ने उनके विचारों का समर्थन करते हुए अपने समर्थक के रूप में उनको पेश किया, तो दूसरी ओर कुछ सर्वोदयी नेताओं ने तथा अन्य लोगों ने भी, कुमारप्पा के इन विचारों को साम्यवादी बतलाया, उनकी आलोचना की और कुछ निन्दा की सीमा तक भी गये। यही कारण है कि जब अक्तूबर १९५६ में कुमारप्पा की उपर्युक्त पुस्तक प्रकाशित हुई तो इसकी भूमिका में काका कालेलकर ने इस सारी परिस्थिति का विस्तार से वर्णन किया और उन्होंने कुमारप्पा के व्यक्तित्व और कार्य का उल्लेख करते हुए कहा :

"कुमारप्पा एक तपे हुए कार्यकर्ता हैं, जो भारत को विस्तार से जानते हैं और गांधीवादी दर्शन में गहराई से रमे हुए हैं। विद्यार्थी के रूप में अमेरिका और यूरोप में बहुत लम्बे समय तक रह चुके हैं, जिसके कारण उन्हें पश्चिम का भरपूर ज्ञान है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री और हिसाब-निरीक्षक हैं। उनसे गांधीजी ने भारत के सार्वजनिक ऋण के अध्ययन के लिए कहा था। उन्हें भारत के विभिन्न प्रान्तों में लोगों की आर्थिक परिस्थिति का सर्वेक्षण करने का भी मौका मिला है। बिहार-भूकम्प के बाद चलनेवाले सघन राहत-कार्य में वे राष्ट्रीय नेताओं के सम्पर्क में आये। अन्त में गांधीजी ने उन्हें भारतीय ग्रामोद्योग के पुनर्जीवन की दृष्टि से अखिल भारतीय संगठन खड़ा करने के लिए चुना। वे जन्म और शिक्षण से भक्त ईसाई हैं। पर उन्हें चर्च के आडम्बर और निष्क्रियता से नाराजगी है।

"रूस और चीन की साम्यवादी सरकारों की उपलब्धियों के सम्बन्ध में कुमारप्पा के मूल्यांकन को इसी पृष्ठभूमि में देखना होगा। कुमारप्पा साम्यवादी तरीकों और तकनीकों की नकल करने को नहीं कहते, वे उस हिंसा का बचाव करने का भी कोई प्रयत्न नहीं करते, जिसके द्वारा साम्यवाद लागू किया गया। उनका इतना ही कहना है कि आम जनता के हित के लिए जो महत्त्वपूर्ण कार्य वहाँ हुए हैं, उनका हम अध्ययन करें और भारत के अपने काम को सुधारें।"

अन्त में काका कालेलकर ने ठीक ही लिखा है, "श्री कुमारप्पा को प्रत्यक्ष में परिस्थितियों को देखने का अवसर मिला। ऐसे प्रौढ़ अर्थशास्त्री तथा समर्पित सामाजिक कार्यकर्ता के अनुभव से राष्ट्र और राष्ट्रीय सरकार को लाभ उठाना चाहिए। कुमारप्पा आज के भारत के उन बहुत थोड़े-से लोगों में हैं, जिनका अपना कोई स्वार्थ नहीं है, जिनकी अपनी कोई व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा नहीं है और जिनका अपना कोई पक्षपात या दुराग्रह नहीं है।"

रूस का वर्णन करते हुए कुमारप्पा ने लिखा है, "मेरा कहना है कि रूसी नमूना उनकी अपनी परिस्थितियों और वातावरण के लिए सर्वोत्तम

हो सकता है। पर भारत रूसी नमूने का अनुसरण नहीं कर सकता, क्योंकि हमारे यहाँ उसी अमर्यादित केन्द्रीकृत और समान स्तर का उत्पादन रेजिमिन्टेशन पर निर्भर होगा, जिसका अंतिम परिणाम हिंसा और समाज विसंगठित होने पर प्रकट होता है। लेकिन हम उनके सब अच्छे बिन्दुओं को ग्रहण कर सकते हैं। रूस में जो नेताओं का स्थान है, वह ईर्ष्या-योग्य है। वे जनता के बीच में रहकर उनका नेतृत्व तथा मार्ग-दर्शन करते हैं। वे उन्हें पीछे से नहीं हाँकते। हमें उनकी देशभक्ति, स्वावलम्बन और स्वदेशी की भावना का भी अनुकरण करना चाहिए। यद्यपि हम उनके तौर-तरीकों को नहीं अपना सकते, पर उनके जैसी सहकारी भावनाओं का विकास करना चाहिए।···अगर हम उनकी शक्ति के सबसे बड़े रहस्य को अपने देश में पैदा कर सकें और वह है जनता का अपने नेताओं में विश्वास, तो हम अपनी आधी समस्याओं का समाधान सहज कर सकते हैं।··· मुझे विश्वास है कि हम भी इस प्रकार का नेतृत्व भारत में निर्माण कर सकते हैं, लेकिन हम उसके लिए आवश्यक सामाजिक दर्शन निर्माण करें। हमारे लिए स्पष्ट और सामान्यतया मान्य लक्ष्य की आवश्यकता है। हमें अपनी समस्याओं का अपने तरीकों पर समाधान निकालना होगा। हम रूस या चीन का अन्धानुकरण नहीं कर सकते, लेकिन हम कुछ सिद्धान्त उनसे ले सकते हैं। अगर वैसा कर लें तो हम रूस या चीन से भी आगे जा सकते हैं। रूस के मानवीय साधन हमारे मानवीय साधनों से बहुत श्रेष्ठ नहीं हैं। अगर हम अपना श्रेष्ठतम प्रयास करें तो हम रूस से भी श्रेष्ठ परिणाम प्राप्त कर सकते हैं। रूसियों का महत्त्व उनकी संगठन-शक्ति में और लक्ष्य निश्चित कर लेने के बाद उसके लिए एकचित्त से जुट जाने में है। क्या हम कभी इस मामले में उस स्तर तक पहुँच सकते हैं ?"

अपने रूस और चीन के अनुभवों का विश्लेषण करते हुए तथा अपने निकट के मित्रों में जो गलतफहमियाँ पैदा हो गयीं थीं उनका निराकरण करते हुए कुमारप्पा ने इसी पुस्तक के अन्त में लिखा, "मैंने, आर्थिक समूह जिस प्रकार से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, उनका विश्लेषण

करते हुए उसे अपनी पुस्तकों में पाँच श्रेणियों में विभाजित किया था : (१) परोपजीवी (२) लुटेरा (३) कारोबारी (४) सहकारी समूह (५) सेवक। यह विभागीकरण स्वार्थपरता और हिंसा के घटते हुए क्रम में था। इन श्रेणियों में पूँजीवाद और साम्राज्यवाद, जिनका समर्थन स्थल-सेना, जल-सेना और वायु-सेना से हो, प्रथम दो श्रेणियों के उदाहरण हैं। व्यापार और खेती तीसरे के उदाहरण हैं। समाजवाद चौथे का और गांधीवाद सेवा पर आधारित सर्वोच्च श्रेणी का उदाहरण है। यह बीस साल पहले की बात है और इन पुस्तकों की भूमिका गांधीजी ने लिखी है। चीन और रूस की मेरी यात्राओं ने मेरे इन विचारों को अधिकाधिक पक्का ही किया है। अगर रूसी अर्थव्यवस्था को राजकीय समाजवाद भी कहा जाय, जहाँ राज्य मुरझानेवाला कहा जाता है, तो भी जहाँ तक राज्य की मात्र चिन्ता सर्वसामान्य के कल्याण की है, वह साम्राज्यवाद से बहुत आगे है और गांधी-विचार के निकट है।

"जब तक ये देश अपने उपभोक्ता सामान की पूर्ति के लिए केन्द्रीय उद्योगों पर निर्भर करेंगे, हिंसा और लोहे के पर्दे को कायम रखना अनिवार्य रहेगा। केवल विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था में ही हम अहिंसा पर आधारित विश्वव्यापी भाईचारे का विकास कर सकते हैं। इसका अर्थ यह है कि शस्त्रों के द्वारा विश्व-शान्ति की कभी स्थापना नहीं हो सकती है।" अंतिम विदेश-यात्रा से लौटने के पहले ही कुमारप्पा वर्धा और शेल्डोह को छोड़कर मदुराई जिले के कालूपट्टी स्थान में स्थित गांधी निकेतन आश्रम में रहने लग गये थे।

तेरह

•

सक्रिय जीवन से विराम

४ जनवरी, १९५२ को कुमारप्पाजी के जीवन के साठ बरस पूरे हुए। षष्ठ्यब्दि-पूर्ति का महाराष्ट्र में बड़ा महत्त्व है और कुमारप्पा के जीवन और प्रवृत्तियों का महत्त्वपूर्ण भाग महाराष्ट्र के मगनवाड़ी, वर्धा में ही बीत रहा था। अतः यह स्वाभाविक ही था कि उनके साथी और मित्र इस अवसर पर कुछ विशेष आयोजन करते। वह आयोजन भी कुमारप्पा के आदर्श के अनुकूल ही हुआ। इस अवसर पर उनके अभिनन्दन में एक जन्म-स्मारिका का प्रकाशन किया गया, जो उनके इस जन्म-समारोह के अवसर पर उन्हें भेट की गयी। यह ग्रन्थ 'शान्ति का अर्थशास्त्र : आदर्श और व्यक्तित्व' (इकॉनॉमिक्स आफ पीस : दी काज एण्ड दी मैन) के शीर्षक से प्रकाशित हुआ। यह ग्रन्थ कुमारप्पा की २५ वर्षों की देशसेवा के लिए अभिनन्दनस्वरूप था। यह ग्रन्थ ५ खण्डों में विभाजित है। पहले खण्ड में कुमारप्पा की जीवनी के छह अध्याय हैं। दूसरे खण्ड में धर्म, अर्थशास्त्र और राजनीति पर उनके विचारों का संग्रह है। तीसरे खण्ड में रचनात्मक क्रान्ति के शीर्षक से खादी, अस्पृश्यता-निवारण, ग्रामोद्योग, नयी तालीम, गोसेवा, हिन्दुस्तानी और महिला-जागृति के आन्दोलनों पर लेख हैं। चौथे खण्ड में समस्याओं पर प्रकाश, इस शीर्षक से रचनात्मक कार्यक्रम से सम्बन्धित अन्य व्यापक विषयों पर लेख हैं। पाँचवें खण्ड में कुमारप्पा के जीवन-प्रसंग हैं और कुछ चुने हुए लोगों द्वारा श्रद्धांजलि अर्पित की

गयी है। पुस्तक हाथ-कागज पर छपी है। कुमारप्पा के कुछ चित्र भी उसमें हैं। इस अवसर पर मगनवाड़ी में एक सुन्दर समारोह का आयोजन किया गया और यह ग्रन्थ उन्हें भेंट किया गया। जैसा ऊपर अनेक स्थानों पर उल्लेख किया गया है, कुमारप्पा जिस काम में लगते थे उसमें अपने स्वास्थ्य की सुध-बुध खोकर रात-दिन पूरी तरह लग जाते थे और मगनवाड़ी तथा ग्रामोद्योग-संघ को खड़ा करने और देश में ग्रामोद्योगों का आन्दोलन पनपाने में कुमारप्पा को बहुत कड़ा परिश्रम करना पड़ा था। इसके साथ ही जेल-जीवन की कठिनाइयों और यातनाओं ने भी उनके शरीर को जर्जर कर दिया था। तीसरी बात यह थी कि अपने खान-पान, रहन-सहन और स्वास्थ्य की वे स्वयं प्रायः बहुत कम परवाह करते थे और एकाकी होने के कारण उनके भोजन आदि की व्यवस्था सामूहिक तथा संस्थागत ही रहती थी। इन सब कारणों का इकट्ठा परिणाम उनके स्वास्थ्य के बिगड़ने में हुआ। रक्तचाप की शिकायत उन्हें पुरानी थी ही। पक्षाघात, हृदय-रोग, फेफड़ों की कमजोरी आदि से भी वे पीड़ित थे। अन्त में डॉक्टरों की सलाह के कारण उन्हें सक्रिय जीवन से विश्राम लेने के लिए मजबूर होना पड़ा। जुलाई १९५३ की ग्रामोद्योग-पत्रिका में उन्होंने लिखा, "लगभग १५ वर्ष पहले मेरे दक्षिण अंग पर लकवे का कुछ घंटे के लिए आंशिक आघात हुआ था, डॉ० जीवराज मेहता और डॉ० गिल्डर ने मेरी परीक्षा की और पाया कि यह आघात स्नायविक कोटि का, उच्च रक्तचाप के बढ़ने के कारण है। तत्काल ही हमारे मातृत्वपूर्ण धातृ—गांधीजी—मुझे मगनवाड़ी से सेवाग्राम ले गये और उन्होंने सालभर तक मुझे व्यक्तिगत सँभाल में रखा। उन्होंने मेरे दैनिक काम और जिम्मेदारियों में कमी कर दी।

"अपनी सँभाल का जो सराहनीय प्रशिक्षण मुझे वहाँ मिला, उसके कारण मैं भला चंगा होने पर १०-१२ घण्टा प्रतिदिन काम करता रहा और बहुत अच्छा न रहा तो भी कम काम करके समय गुजार सका। लेकिन गत कुछ वर्षों में साठ वर्ष से अधिक कार्य के दबाव के कारण मेरी शारीरिक

शक्ति कम होती जा रही है। इस सबके बावजूद उचित सावधानी रखने और प्रतिदिन दैनिक संतुलन के कारण मैं चीन, जापान, जर्मनी और रूस की दूर-दूर की यात्राएँ भी कर पाया और मैं अपना सामान्य कार्य भी करता रहा। गत मई मास में कुछ ईसाई नवयुवकों द्वारा कुनूर में आयोजित समाज के अध्ययन-सम्बन्धी एक सम्मेलन में शामिल हुआ तो उस समय मुझे फिर लकवे का आंशिक आघात हुआ, जो लगभग एक सप्ताह तक चला। मुझे जाँच के लिए बँगलोर के विक्टोरिया अस्पताल में ले जाया गया। अस्पताल के मुख्य चिकित्सक ने तीन दिन की विस्तृत जाँच के बाद मुझे सारी जिम्मेदारियों से और कामकाज के दैनिक निर्देशन से पूरा अवकाश लेने को कहा और उनकी यह भी सलाह रही कि यदि सम्भव हो तो सक्रिय जीवन से विराम ले लूँ। मैंने चिकित्सक की इस सिफारिश को सर्व सेवा संघ के सामने रखा और सक्रिय जीवन से विराम ले लेने की अनुमति चाही। पर संघ का यह अनुरोध रहा कि मैं पूरी तरह से अभी विराम न लूँ, किन्तु कार्य की गति कम कर दूँ। प्रवास घटा दूँ और अपना खेमा किसी एक स्थान पर ही गाड़ दूँ तथा दैनिक कार्य की बिना जिम्मेदारी लिये सलाह और मार्गदर्शन द्वारा ही मदद करूँ। यह मैं करने का प्रयास कर रहा हूँ और जहाँ तक मेरा स्वास्थ्य साथ देगा, मैं सबकी इन इच्छाओं की पूर्ति करता रहूँगा।"

स्वास्थ्य के अतिरिक्त कुछ मानसिक कारण भी ऐसे रहे लगते हैं, जिनसे कुमारप्पा का मन मगनवाड़ी और पन्नयी-आश्रम से उचट गया था। वे गांधीजी के देहावसान के बाद अपने सभी कामों में उनका अभाव बहुत अनुभव करने लगे थे। गांधीजी उन्हें न केवल उनके कामों में सलाह और मार्गदर्शन करते थे, बल्कि आर्थिक चिन्ता और जिम्मेदारी से वे कुमारप्पा को मुक्त रखते थे तथा आपसी सम्बन्धों को स्नेहपूर्ण रखने और व्यक्तिगत समस्याओं को सुलझाने में भी गांधीजी का बहुत योगदान रहता था। दूसरे, ग्रामोद्योग-संघ के सर्व सेवा संघ में विलीन हो जाने के बाद मगनवाड़ी का विद्यालय बन्द हुआ, सर्व सेवा संघ का कुछ कार्यालय मगनवाड़ी में आ

गया और ग्रामोद्योगों का काम कमीशन के हाथ में चला गया। एक तरह से कुमारप्पा की मगनवाड़ी परायी हो गयी, इसका भी असर कुमारप्पा के मन पर रहा होगा। तीसरी बात यह कि शेल्डोह के प्रयोग में भी आर्थिक सहायता के संकोच के कारण तथा निकट के साथियों में मतभेद के परिणाम-स्वरूप जिस लगन, उत्साह और विवेक के साथ वे चलाना चाहते थे, उसमें कमी आने लगी थी। इन सबका असर भी कुमारप्पा के मन और स्वास्थ्य पर काफी पड़ा होगा। कुल मिलाकर कुमारप्पा ने मगनवाड़ी और वर्धा छोड़ने का विचार कर लिया। अनेक कारणों से कुमारप्पा का विचार दक्षिण भारत में जमने का बना। वैसे कुमारप्पा का सम्पर्क सारे देश में था और वे ग्रामोद्योग-आन्दोलन के कारण अखिल भारतीय नेतृत्व के व्यक्ति थे। अनेक स्थानों से उन्हें निमंत्रण प्राप्त हुए। उनके सम्बन्धियों और मित्रों ने आबहवा और एकान्त के दृष्टिकोण से विभिन्न स्थानों के सुझाव दिये। उनमें से कुछ स्थानों पर वे स्वयं गये भी। एक स्थान पर वे कुछ समय तक रहे भी। पर अन्त में उन्होंने तमिलनाडु राज्य के मदुराई जिले में कालूपट्टी ग्राम के निकट गांधी निकेतन आश्रम में ही रहने का निश्चय किया।

यह आश्रम दक्षिण भारत के रचनात्मक केन्द्रों में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। खादी-ग्रामोद्योगों का यहाँ बहुत विकास और विस्तार हुआ है। मगनवाड़ी की भाँति ही इस आश्रम में भी स्वदेशी और स्वावलम्बन का पूरा ध्यान रखा गया है। मकानात प्रायः मिट्टी और बाँस के बने हुए हैं। खादी-ग्रामोद्योगों के अतिरिक्त यहाँ कार्यकर्ता-प्रशिक्षण-केन्द्र भी काफी समय से चल रहा है। इसे एक प्रकार से दक्षिण भारत की मगनवाड़ी कहना अनुपयुक्त नहीं होगा। आरम्भ में कुमारप्पा इस आश्रम के एक छोटे कमरे में आकर रहे। उसके बाद उन्हें अपनी बहन से कुछ रुपया प्राप्त हुआ। उस रुपये से कुमारप्पा ने अपने निवास के लिए आश्रम की भूमि पर एक छोटा-सा निवास-स्थान बनवाया। यह कुमारप्पा-कुटीर उनके आदर्श के अनुसार एक ही कमरे का बना हुआ है, जिसमें विभाग करके स्नान-घर, शयनागार,

पुस्तकालय की व्यवस्था है। कमरे के चारों तरफ बरामदा है, जिसमें कुमारप्पा भोजन के बाद विश्राम करते थे और वहीं पास में उनके कार्यकारी सहायकों के बैठने की व्यवस्था थी। मकान के चारों ओर बगीचे के लिए छोटा-सा अहाता है, जहाँ उन्होंने अनेक प्रकार के पेड़-पौधे लगा रखे थे। साथ ही उनके घूमने के लिए भी चारों ओर एक सँकरा रास्ता बना हुआ था।

कुमारप्पा प्रातःकाल पाँच बजे उठते थे। सुबह उठकर वे पढ़ते थे और नीरा या चावल का पानी थोड़ा-सा पीते थे, फिर अहाते के अन्दर घर के चारों तरफ चक्कर लगाते थे। प्रत्येक चक्कर कितने गज का होता है और कितने चक्करों से एक मील बनता है यह सब हिसाब किया हुआ था। उसी हिसाब से उनका यह चंक्रमण चलता था। फिर नाश्ता करते थे और अपने कार्यालय का कार्य शुरू करते थे। पत्र-व्यवहार आदि भी उसी समय करते थे। उस काम से ११ बजे फारिग होते थे; फिर स्नान और भोजन का क्रम चलता था। भोजन के पश्चात् २-३ घण्टे आराम करते थे। ३ बजे के पश्चात् लोगों से मिलते थे, कक्षा लेते थे अथवा अन्य बातचीत करते थे। ६ बजे के आस-पास वे फिर अपने अहाते में चक्कर लगाते थे। ७ बजे भोजन करते थे और उसके बाद कुछ काम करके जल्दी ही सो जाते थे। वे अपने कपड़ों को स्थानीय साबुन से प्रायः स्वयं ही धोते थे। कभी धोबी को धोने के लिए अपना कपड़ा नहीं देते थे। उनके पास कपड़ों के ३-४ जोड़ों से अधिक नहीं रहते थे। कपड़ों में धोती-जामा उनकी मुख्य पसन्द और अपनी खोज थी। वे आधी बाँहों की बनियाइन और विशेष प्रकार का कुर्ता पहनते थे। कभी-कभी टोपी भी लगाते थे। दीवाली के अवसर पर आश्रम के द्वारा उन्हें खादी भेंट की जाती थी। कुमारप्पा इस आश्रम में १९५३ की ५ जून को आये और ढाई वर्ष से अधिक यहाँ रहे। उनके रहन-सहन का तरीका सादा होने पर भी मिलने-जुलने का तरीका सदा की भाँति कड़ा था। वे पहले से समय निश्चित किये बिना नहीं मिलते थे। जब कोई उनसे मिलने जाता तो पहले अपना नाम बताता और उनसे इजाजत मिलने पर ही उनके

पास तक पहुँच सकता था। वे अपने कार्यकर्ताओं आदि को बुलाने के लिए भी एक घण्टी रखते थे और उसका उपयोग करते थे।

जब कुमारप्पा आये, तब आश्रम की प्रवृत्तियाँ तो काफी अरसे से चल रही थीं। आश्रम की स्थापना १९४० में हुई थी, यद्यपि १९४२ के भारत छोड़ो-आन्दोलन के समय उसे पूरी तरह बन्द कर दिया गया था। पर आश्रम का न कोई अपना विधान था और न उसका पंजीकरण हुआ था। कुमारप्पा ने यहाँ आने के बाद आश्रम का पहला संविधान तैयार कराया, पंजीकरण कराया और कुमारप्पा ही उसके पहले अध्यक्ष बने। कुमारप्पा ने आश्रम में गांधी-मंडप की स्थापना की और उस मंडप में गांधीजी की मूर्ति रखी गयी। इस मूर्ति के नीचे पहले गांधीजी का भस्म स्थापित किया गया। मद्रास सरकार से भस्म का यह अंश आश्रम को प्राप्त हुआ था। कुमारप्पा ने उस भस्म को हाथ-कागज के अन्दर रखा और उसे स्थानीय मिट्टी के बने पात्र में रखकर स्थानीय बनी हुई खादी से ढँक दिया। जमीन के अन्दर गांधीजी के भस्म-पात्र को रखते समय कुमारप्पा रो पड़े। वे रुँधे हुए गले से बोले, "इस देश में गांधी को हमने दफना दिया।" किन्तु बाद में कुछ स्वस्थ होकर उन्होंने आश्रम के बालकों से, जो इस अवसर पर एकत्रित थे, बोले, "तुम लोग गांधी के दीपक को अपने हाथ में रखना।" श्री राजेन्द्रबाबू ने गांधी-मण्डप की इस गांधी-मूर्ति का अनावरण किया। श्री राजेन्द्रबाबू का आगमन १९५६ के १६ अगस्त को हुआ था। उन दिनों जब कुमारप्पा इस आश्रम में थे तो उस समय मदुराई जिले में कालूपट्टी के पास ही तेल की मिल बनाने का लाइसेंस मद्रास सरकार द्वारा किसी व्यक्ति को दे दिया गया। कुमारप्पा इस पर बहुत क्रुद्ध हुए और उन्होंने मद्रास सरकार के साथ इस सम्बन्ध में काफी लिखापढ़ी की, पर सरकार उस मामले में टस-से-मस नहीं हुई। जब राजेन्द्रबाबू राष्ट्रपति के पद पर थे, तब जैसा ऊपर कहा गया है, वे कुमारप्पा से मिलने के लिए कालूपट्टी आना चाहते थे। उस समय मद्रास सरकार ने राष्ट्रपति के कार्यक्रम को सार्वजनिक और आकर्षक रूप देने के लिए अम्बर

चरखे के वर्ग का उद्घाटन-कार्यक्रम भी जोड़ दिया। जब कुमारप्पा को यह पता चला तो वे बहुत क्रुद्ध हुए, क्योंकि कुमारप्पा अम्बर चरखे के समर्थक नहीं थे। उनका मानना था कि अंबर चरखा कताई की छोटी मिल ही है। मनुष्य की अँगुलियों, उसके मानस की एकता और कला का उसमें कोई स्थान नहीं है। कहा जाता है कि कुमारप्पा ने श्री राजेन्द्रबाबू को तार से सूचना दे दी कि अगर अम्बर चरखे के वर्ग के उद्घाटन का कार्यक्रम रखा जाय तो कालूपट्टी आने की आवश्यकता नहीं है। मद्रास सरकार ने उक्त कार्यक्रम दूसरे गाँव में रखा और श्री राजेन्द्रबाबू आश्रम देखने और कुमारप्पा से मिलने ही कालूपट्टी गये। कुमारप्पा ने राष्ट्रपति का स्वागत अपनी मिट्टी और बाँस की झोंपड़ी में किया और आगत मेहमानों को स्थानीय सामान और स्थानीय मजदूरों द्वारा तैयार की गयी चटाइयों और खादी पर—जमीन पर—बैठाया तथा स्थानीय वस्तुओं से उनका स्वागत किया। श्री राजेन्द्रबाबू के साथ मद्रास के राज्यपाल श्री श्रीप्रकाश, मुख्यमंत्री श्री कामराज और उद्योगमंत्री श्री भक्तवत्सलम् भी थे। उस अवसर पर भी कुमारप्पा कालूपट्टी-क्षेत्र में तेल की मिल खोलने की व्यवस्था को प्रकट करने से नहीं चूके। उन्होंने इस अन्तर्विरोध की शिकायत की कि सरकार एक तरफ खादी-ग्रामोद्योग कमीशन चलाकर ग्रामोद्योगों को खड़ा करना चाहती है और दूसरी ओर ग्रामोद्योगों को मारना भी चाहती है। गांधी-मण्डप में गांधीजी की मूर्ति के अनावरण के अवसर पर कुमारप्पा के मन में जो भावनाएँ थीं, उनकी अभिव्यक्ति हुए बिना नहीं रह सकी। इसी वर्ष के दिसम्बर मास में ईसा-जयन्ती के अवसर पर विनोबाजी यहाँ आये और दो दिन आश्रम में ठहरे। विनोबाजी के साथ भूदान के सम्बन्ध में कुमारप्पाजी की बातचीत हुई। कुमारप्पा व विनोबा बहुत हार्दिकता और स्नेह के साथ आपस में मिले। इसमें शक नहीं कि विनोबा और कुमारप्पा के बीच स्पष्ट मतभेद था। विनोबा का बल भूमि प्राप्त करने पर था और वे भूमि-प्राप्ति को विराट् आन्दोलन का रूप दे रहे थे। कुमारप्पा का जोर भूमि-प्राप्ति के साथ तत्काल उसके वितरण

और उसकी व्यवस्था पर था। उनका मानना था कि इस प्रकार भूमि इकट्ठी करते जाने से कोई लाभ नहीं होगा और लक्ष्य निश्चित करके भूमि माँगना तथा जैसे-तैसे लक्ष्य की पूर्ति करना तो उनकी निगाह में बिलकुल गलत था। आँकड़ों के रूप में लक्ष्य निश्चित करने की बात को वे हिंसात्मक मानते थे। भूमि-वितरण और भूमि-व्यवस्था के लिए कुमारप्पा कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण और उनका एक कुशल समूह (काडर) कायम करने पर बहुत जोर देते थे। कुमारप्पा का यहाँ तक मानना था कि इस प्रकार की व्यवस्था किये बिना भूमि प्राप्त करते जाना एक एकार से किसान और देशवासी के साथ द्रोह करना होगा।

श्री आर्यनायकम्, श्री आशादेवी, श्री अमलप्रभा दास आदि अनेक मित्र उनसे समय-समय पर मिलने आते थे। श्री भारतन् कुमारप्पा भी एक बार दीवाली के अवसर पर उनसे मिलने आये और उन्हें भी आश्रम की ओर से खादी भेंट की गयी। श्री देवदास गांधी के प्रति उनका बहुत स्नेह था और वे भी उनसे मिलने आये थे। आश्रम में रहने की अवधि में भी बीच-बीच में उनका स्वास्थ्य विशेष रूप से खराब हो जाता था तो मदुराई के अस्पताल में इलाज करवाना होता था। जब उनकी तबीयत ज्यादा खराब हुई तो उन्हें १९५७ के अगस्त मास में मद्रास के जनरल अस्पताल में लाया गया और २३ दिन के बाद उन्हें अस्पताल से छुटकारा मिला। १५ दिन तक उन्होंने श्री पद्मनाभन् के निवास-स्थान पर विश्राम किया। उसके बाद वे वापस कालुपट्टी चले गये। किन्तु १० दिन के बाद २८ नवम्बर, १९५७ को उन्हें फिर दौरा पड़ा। उसका कारण सम्भवतः उनके भाई श्री जे० एम० कुमारप्पा का अचानक स्वर्गवास था। वे फिर मदुराई अस्पताल में लाये गये और तीन सप्ताह वहाँ रहकर फिर मद्रास जनरल अस्पताल में ले जाये गये। श्री राजेन्द्रबाबू १९५७ के १५ अगस्त को फिर उनसे मिले। अबकी बार जो कुमारप्पा अस्पताल में आये तो उनको वहाँ से छुटकारा नहीं मिला। २८ महीने वे मद्रास के जनरल अस्पताल में ही रहे। इस लम्बी बीमारी के अवसर पर मद्रास सरकार ने बहुत ही सहानुभूति और संवेदनापूर्ण

रुख अपनाया। अस्पताल का सारा खर्च सरकार के द्वारा वहन किया गया और वे सरकारी मेहमान के तौर पर वहाँ रहे। अस्पताल में उनके लिए एक कमरा अलग नियत कर दिया गया था। सर्व सेवा संघ की ओर से भी आरम्भ में कुछ सहायता दी गयी थी। प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू भी कुमारप्पा से मिलने के लिए एक बार अस्पताल में आये थे। कुमारप्पा ने उस बीमारी की हालत में भी गांधी-विचार और आदर्श के अनुसार इस देश के आयोजन और प्रशासन को चलाने की अपनी धुन नहीं छोड़ी। कुमारप्पा और श्री नेहरू में बहुत स्नेह था और वे एक-दूसरे के स्वभाव की तीव्रता को जानते थे। पंडितजी ने उस अवसर पर कहा बताते हैं, "आप और हम दोनों तेज मिजाज के हैं। मैं आपसे मिलने के लिए आया हूँ। आप जो कुछ कहना चाहते हैं कहें, मैं कुछ नहीं बोलूँगा। आपकी हरएक बात को नोट करूँगा और उसके सम्बन्ध में जो कुछ कर सकूँगा, करूँगा।" अस्पताल में कुमारप्पा की तबीयत कभी ठीक हो जाती थी और कभी बिगड़ जाती थी। ठीक होने पर उन्हें थोड़ा बहुत घूमने की इजाजत मिलती थी और कभी-कभी वे मद्रास बीच पर घूमने के लिए भी ले जाये जाते थे।

एक बार गांधी निकेतन आश्रम की ओर से श्री गुरुस्वामी आदि खादी तथा ग्रामोद्योगी वस्तुएँ कुमारप्पा के उपयोग के लिए अस्पताल में लेकर गये। उन दिनों उनकी तबीयत कुछ ठीक थी। कुमारप्पा को ये वस्तुएँ प्राप्त करके बहुत प्रसन्नता हुई। उन्होंने अपने कमरे के पास ही एक मेज पर इन सारी ग्रामोद्योगी वस्तुओं को सजवाया और अस्पताल के परिचित डॉक्टरों आदि को बुलाकर उन्हें ग्रामोद्योगी वस्तुओं की उपयोगिता और महत्त्व को विस्तारपूर्वक समझाया।

बीमारी की हालत में भी उनके मिजाज की कड़ाई और झूठ तथा दिखावे को सहन न करने की वृत्ति खतम नहीं हुई थी। अक्सर वे बिना पूर्वसूचना के मिलने आनेवाले व्यक्तियों से मिलने से इनकार कर देते थे। वे शाम का भोजन दिन में ही करके शाम को जल्दी ही लेट जाते थे। उस समय उनसे कोई नहीं मिल सकता था। फिर भी कुछ निकट के लोगों को

छूट थी। पर वे भी बहुत डरकर ही उसका उपयोग कर सकते थे और वे निकट-से-निकट के तथा बड़े-से-बड़े मित्र और सहकारी को भी दिखावे और ढोंग के लिए डाँट देते थे।

१९६० की ४ जनवरी को कुमारप्पा का जन्म-दिन अस्पताल में बहुत हार्दिकता के साथ मनाया गया। उस अवसर पर एक अभिनन्दन-समिति की स्थापना भी की गयी, लेकिन उसके बाद कुमारप्पा का स्वास्थ्य बिगड़ता गया और गांधीजी के देहावसान के ठीक १२ बरस बाद और ठीक उसी दिन (३० जनवरी को) जब गांधीजी की आत्मा परमात्मा में मिली थी, अहिंसात्मक अर्थ तथा समाज-व्यवस्था का यह संदेशवाहक गांधीजी के पदचिह्नों पर परलोक चल पड़ा और इस प्रकार कुमारप्पा की ज्योति भी गांधी-ज्योति तथा ईश्वर-ज्योति में विलीन हो गयी। ●

दूसरा भाग

व्यक्तित्व

एक

पक्के और सच्चे हिसाबी : विचार, अर्थ और कर्म में

कुमारप्पा लम्बे कद के, साँवले रंग के, भारी व्यक्ति थे, यद्यपि वे बहुत मोटे नहीं थे। अधेड़ उम्र में सिर के बाल सामने से काफी उड़ गये थे। यह शायद उनकी पारिवारिक प्रकृति ही थी। एक बार जब उनके बड़े भाई और छोटे भाई गांधीजी से मिलने आये तो गांधीजी ने उन्हें ऊपर से नीचे तक देखा और जब उन्हें बतलाया गया कि वे कुमारप्पाजी के भाई हैं, तो उन्होंने उन दोनों भाइयों के खल्वाट मस्तकों की ओर देखकर मुस्कराहट के साथ कहा, "इस सम्बन्ध में मुझे बतलाने की क्या आवश्यकता है, मैं देखकर ही पहचान सकता हूँ।" कुमारप्पा अधेड़ अवस्था तक दाढ़ी-मूँछ सब साफ रखते थे, लेकिन वृद्धावस्था में दाढ़ी रखने लगे थे। उनके चेहरे पर भरी हुई दाढ़ी खूब फबती थी।

गांधीजी के सम्पर्क में आने के पहले वे पश्चिमी ढंग की वेशभूषा और पोशाक पहनते थे। गांधीजी के सम्पर्क में आने के बाद वे खादी का कोट, कमीज, पायजामा और गांधी टोपी पहनने लगे थे। बाद में उन्होंने पायजामा और धोती को मिलाकर एक नयी मितव्ययी चीज धोती-जामा का आविष्कार किया और वह पहनने लगे। कोट और कमीज की जगह कुर्ते ने ले ली। कम-से-कम कपड़े में शिष्टता और शालीनता के साथ किस प्रकार रहा

जाय, इसका वे बराबर ध्यान रखते थे। चाहे उनके कपड़े सामान्य खादी के हों, पर वे सदा साफ-सुथरे और अच्छे सिले हुए होते थे। कुमारप्पा अहिंसक सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था के संदेशवाहक-पैगम्बर थे। जो कहते थे वह पहले स्वयं करते थे, इसलिए उनका व्यक्तित्व और उनका जीवन उनके विचार से प्रस्फुटित होनेवाले जीवन-क्रम और रहन-सहन के अनुरूप था। यदि विनोबाजी की भाषा में कहा जाय तो कुमारप्पा का व्यक्तित्व, जीवन, विचार और कार्यक्रम (भूदानमूलक) ग्रामोद्योग-प्रधान अहिंसक क्रान्ति के लिए समर्पित था और उनकी सारी रहन-सहन, व्यवहार उसीके साथ जुड़ा हुआ और उसीके साथ अनुबंधित था।

कुमारप्पा गांधीजी की तरह सत्य के प्रयोगकार और सत्य के खोजी नहीं थे, बल्कि जो कुछ उन्हें सत्य लगता, उसके अनुसार कड़ाई और दृढ़ता से अपने जीवन को उसके अनुरूप तुरन्त ढालकर चलते थे और उससे लेश-मात्र भी इधर-उधर नहीं होते थे। वास्तव में कुमारप्पा का दिमाग एक गणितज्ञ तथा वैज्ञानिक का था। उनकी दृष्टि हमेशा विवेक और तर्क से प्रभावित रहती थी। बचपन में उन्हें यंत्रों में बहुत रुचि थी। पढ़ाई में गणित उनका सबसे प्रिय विषय था। पेशा उन्होंने हिसाब और लेखा-परीक्षक का अपनाया। कहना न होगा कि कुमारप्पा पक्के हिसाबी थे। विचार, व्यवहार और कार्य, सब हिसाब से करते थे। दूसरे भी हिसाब से करें, यह चाहते थे। अपने ऊपर पूरी कड़ाई रख पाते थे, इसलिए दूसरों से कड़ाई की अपेक्षा रखते थे और यदि वह पूरी न होती थी तो नाराज होते थे, पर उनकी नाराजगी में कहीं द्वेष और कोप नहीं था और कड़ी बात कहने के साथ ही उनकी आँखों से मुस्कराहट झलक जाती थी। चूँकि वे जो कहते थे उसे पहले जीवन में धारण किये हुए होते थे, इसलिए लोग उनकी सचाई के कायल होकर उनकी बात सह लेते थे, मान लेते थे। कुमारप्पा का हिसाबीपन अपने या अपने परिवार के या अपने किसी गुट के स्वार्थ-साधन की दृष्टि से नहीं था, बल्कि समाज-हित या राष्ट्र-हित की दृष्टि से परिपूर्ण था। उनका सारा चिन्तन, व्यवहार और कार्य अहिंसक समाज-व्यवस्था

की स्थापना के हेतु होता था और उसमें जहाँ अवरोध होता हो उसे अहिंसक तरीके से दूर करना, पहले स्वयं करना और फिर दूसरे को करने के लिए कहना—और इन सबके साथ निश्छल तथा मुक्त हास्य, व्यंग्य और विनोद की धारा की निर्बाध गति ने उन्हें सिर्फ पक्का हिसाबी ही नहीं, बल्कि सच्चा हिसाबी बना दिया ।

उनकी पक्की और सच्ची हिसाबी वृत्ति का दूसरा विशिष्ट लक्षण था हर काम में वक्त की पाबंदी । इस संबंध में उनकी लगन अक्सर स्नेह और शिष्टाचार की मर्यादा का भी अतिक्रमण कर जाती थी । बचपन से ही कुमारप्पा वक्त के बड़े पाबन्द थे । वे जब पाठशाला में पढ़ते थे, तो उन्हें देर से शाला में पहुँचने से बहुत चिढ़ थी । और घर पर करने को कितना ही काम दिया हो, वे उसे पूरा करके ही ले जाते थे, चाहे उसके लिए उन्हें रात को कितनी ही देर तक बैठना पड़े या प्रातःकाल जल्दी उठना पड़े या बिना कलेवा किये शाला के लिए भागना पड़े ।

समय की पावन्दी और जीवन की नियमितता को सीखने में कुमारप्पा पर अपने पिता का असर अधिक रहा । उनके पिता कड़े अनुशासनप्रिय, व्यवस्थित और कम बोलनेवाले थे । वे प्रतिदिन पाँच बजे उठकर सबको जगाकर अपने-अपने काम पर लगा देते थे । वे अपने घर को बहुत साफ-सुथरा रखते थे । यही नहीं, वे बेंत लेकर घर से बाहर निकलते और उनके डर के मारे सार्वजनिक सड़क पर कोई लघुशंका आदि नहीं कर पाता था । म्युनिसिपैलिटी के सफाई के कर्मचारियों को भी वे अपने काम में मुस्तैद रखते थे । उनकी वक्त की पाबन्दी घर के भीतर और बाहर, पारिवारिक और सामाजिक नियमितता और कड़ाई, कुमारप्पा को विरासत में मिली और वे निजी जीवन में वक्त के पाबन्द और व्यवस्थित तथा सामाजिक जीवन में अनुशासनयुक्त, कड़े और निर्भय आलोचक तथा अत्यन्त परिश्रमी कार्य-कर्ता बने ।

पहले उल्लेख किया जा चुका है कि उन्होंने अपने एक मित्र से साढ़े पाँच बजे टेनिस-क्लब में टेनिस खेलने का समय निश्चय किया, पर जब वे शाला

के बाद घर पहुँचे तो उनके पिता बोले, "तुम कसबे में जाओ और लालटेन का शीशा खरीदकर ले आओ।" कुमारप्पा ने अपने पिता से कह दिया कि उन्होंने साढ़े पाँच बजे का समय अपने मित्र को दिया है, अतः उन्हें अपना वादा कायम रखना होगा। स्वाभाविक था कि पिताजी नाराज होते और भला-बुरा कहते, पर कुमारप्पा ने अत्यन्त शान्ति से अपना निश्चय दुहरा दिया और बोले, "आप पहले कह देते तो मैं आज कसबे में जाकर शीशा ला सकता था, पर अब तो उक्त कार्य कल ही कर सकूँगा।"

समय की पाबन्दी की इस वृत्ति का ही परिणाम था कि वे बिना पहले से समय निश्चित किये हुए लोगों से नहीं मिलते थे। यहाँ तक कि गांधीजी तक को कुमारप्पा से मिलने के लिए उनसे पूछकर पहले समय तय करना होता था। बिहार-भूकम्प के राहत-काम में जब कुमारप्पा पटना में थे और गांधीजी राहत कमेटी की बैठक के सिलसिले में पटना आये तो उन्होंने कुमारप्पा से मिलना चाहा। गांधीजी एक ही दिन वहाँ ठहरने-वाले थे। लेकिन उस दिन कुमारप्पा रिलीफ कमेटी के हिसाब के काम में अत्यन्त व्यस्त थे, अतः उन्होंने गांधीजी से मिलने से इनकार कर दिया। बाद में दोनों की सुविधा के अनुसार जब तिथि का निश्चय हुआ तो कुमारप्पा गांधीजी मिलने के लिए पटना से वर्धा गये और उनसे मिलकर वापस पटना आये।

कुमारप्पा के जीवन में ऐसे भी अनेक प्रसंग आये हैं, जब कि मंत्रियों, महत्त्वपूर्ण विदेशी पर्यटकों और अतिथियों ने उनसे मिलने का समय निश्चित किया और वे लोग निश्चित समय के १०-२० मिनट बाद भी पहुँचे तो कुमारप्पा ने उनसे मिलने से बिलकुल इनकार कर दिया। इससे उन लोगों में रोष और खीझ हो जाना स्वाभाविक था। पर कुमारप्पा अपने निश्चय पर चट्टान की तरह दृढ़ थे। वे स्वयं भी बिना पहले से समय निश्चित किये किसीसे मिलने नहीं जाते थे और सदा समय पर ही पहुँचते थे।

एक प्रसंग का वर्णन श्री जी० रामचन्द्रन् ने किया है। उनका कहना है, "मगनवाड़ी के १७ वर्ष के कार्यकाल में शायद ही कोई समारोह या किसी

कक्षा में या किसी साक्षात्कार में ऐसा अवसर आया हो, जब वे शामिल न हुए हों या देर से हुए हों। एक या दो बार मैंने उन्हें अपनी घड़ी के अनुसार कक्षा में या सभा में जल्दी आते हुए पकड़ लिया और मैंने यह चुटकी ली, 'बहुत जल्दी आना भी बहुत देर से आने जितना ही बुरा है।' कुमारप्पा ने अत्यन्त शान्तिपूर्वक कहा, 'महाशय, आप अपनी घड़ी सही कर लीजिये। मैं प्रतिदिन अपनी घड़ी को डॉक्टर की दूकान पर रेडियो के समय से मिला लेता हूँ।' कहा जा सकता है कि आजीवन अविवाहित कुमारप्पा को घड़ी जीवन-संगिनी के रूप में प्राप्त हुई थी। वे दीन और दुनिया के हिसाब-किताब में इतनी लगन और गहराई से जुटे रहे कि उन्हें और दूसरा जीवन-साथी चुनने और प्राप्त करने का वक्त और अवसर ही नहीं मिल पाया। ●

दो

आजीवन विद्रोही

कुमारप्पा अपने निजी जीवन में सरल, सच्चे, अपरिग्रही और व्यवस्थित थे, अतः सार्वजनिक क्षेत्र में जहाँ कहीं भी वे अन्याय, विषमता और अनौचित्य देखते थे, वे अत्यन्त क्रुद्ध हो उठते थे। ढोंग, दिखावा और आत्मप्रवंचना से वे बहुत चिढ़ते थे। ईश्वर ने उन्हें भाषा पर असामान्य अधिकार दिया था। अतः उनकी वाणी आग उगलने लगती थी। वे जितने निर्भीक थे, उतने ही भावनापूर्ण थे और जितने भावनापूर्ण थे, उतने ही कष्टसहिष्णु

थे। निश्चय ही कुमारप्पा उस मिट्टी के बने हुए थे, जिससे शहीद और क्रान्तिकारी बनते हैं और कुमारप्पा आजीवन विद्रोही बने रहे।

कुमारप्पा अपने माँ-बाप के बारह बच्चों में नवें थे। उनके बड़े भाई उनसे पाँच-पाँच, सात-सात वर्ष बड़े थे। अक्सर वे बालक कुमारप्पा को घेर लेते और चिढ़ाते थे और उससे पूछते कि तुझे दर्द होता है या नहीं और डर लगता है या नहीं। बालक दृढ़ता से बोलता, "नहीं" तो वे लोग पिता की बेंत उठा लाते और उस बालक की हथेलियों पर २०-२० बेंत तक लगाते। फौलादी स्वभाव का वह बालक न रोता और न हाथ खींचता, यह साबित करने के लिए कि वह नहीं डरता और न उसे दर्द का अनुभव होता है। लेकिन उसी बालक कुमारप्पा ने अपनी पढ़ाई के पहले दिन जब कक्षा में अध्यापक को एक बालक को बेंत मारते देखा तो वह रोकर कक्षा से घर भाग आया। कुमारप्पा सच्चे विद्रोही की तरह अगर कुछ मामलों में वज्र की तरह कठोर थे, तो दूसरे मामलों में फूल की तरह कोमल भी। भारत की गरीबी और भारतीयों की शोषण की वेदना ने ही उन्हें गांधीजी की पंक्ति में लाकर खड़ा कर दिया और उन्होंने अंग्रेजों के अन्याय के खिलाफ अत्यन्त दृढ़ता के साथ बिना झुके हुए विद्रोह किया। हिन्दुस्तान के आजाद होने के बाद जब गांधीजी के उत्तराधिकारियों ने गांधीजी के दरिद्र-नारायण के हित के दृष्टिकोण को मान्य नहीं किया और सामाजिक अन्याय और शोषण के उन्मूलन की दिशा में आगे बढ़ने में उन्होंने ढिलाई और उपेक्षा दिखाई, तो उनका विद्रोही स्वभाव उसे भी सहन नहीं कर सका और इसका भी विरोध, कड़ी-से-कड़ी भाषा में, किया।

कुमारप्पा का जन्म एक सम्भ्रान्त ईसाई परिवार में हुआ था और उनकी शिक्षा-दीक्षा भी पहले भारत में, फिर इंग्लैण्ड और अमेरिका में, अंग्रेजी तौर-तरीकों से ही हुई थी। इसीलिए उनके विचार, भाषा, रहन-सहन और पहनावा सभी पश्चिमी तरीके के थे। लेकिन जब वे अमेरिका के कोलम्बिया विश्वविद्यालय में सार्वजनिक वित्तीय व्यवस्था के अध्ययन के लिए गये तो उनके प्रधानाध्यापक डॉ० सेलिगमेन ने इस बात पर जोर

दिया कि सार्वजनिक वित्तीय व्यवस्था भारत की गरीबी के लिए किस सीमा तक कारणरूप रही है, इसका भी अध्ययन किया जाय। उनका यह अध्ययन बाद में 'सार्वजनिक वित्तीय व्यवस्था और हमारी गरीबी' इस नाम से 'यंग इण्डिया' में लेखमाला के रूप में प्रकाशित हुआ और बाद में पुस्तकाकार छपा। इस अध्ययन के फलस्वरूप अंग्रेजों के अन्याय और शोषण के प्रति कुमारप्पा के मन में अंग्रेजों के खिलाफ जो विद्रोह की भावना पैदा हुई, वह उत्तरोत्तर बढ़ती गयी।

इस विद्रोह का पहला परिणाम यह हुआ कि कुमारप्पा अब तक जे० सी० कारनेलियस कहलाते थे, अब उन्होंने अपना पुराना भारतीय नाम रख लेना उचित माना। और अब वे अपने-आपको जोसफ कारनेलियस कुमारप्पा कहने लगे। इसी परिवर्तन की कड़ी में उपर्युक्त पुस्तक की भूमिका के सिलसिले में कुमारप्पा का गांधीजी से मिलना हुआ। यहाँ उनके दिल और दिमाग को अनमोल खुराक मिली और वे हमेशा के लिए विद्रोही सत्याग्रहियों में शामिल हो गये।

कुमारप्पा को १९३१ में भारतीय दंड-संहिता धारा १२४ ए के अन्तर्गत गिरफ्तार किया गया, तो अदालत के सामने अपने बयान में उन्होंने कहा, "भारत सरकार की स्थापना इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट के एक कानून द्वारा हुई। इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट इंग्लैण्ड की जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है। इसलिए यह कानूनी तौर पर केवल लन्दन में काम कर सकती है, न कि पेकिंग या दिल्ली में। इन स्थानों में वह एक गैर-कानूनी संस्था बन जाती है। हिन्दुस्तान के लोगों की वफादारी ऐसी सरकार के प्रति उससे अधिक नहीं हो सकती, जितनी चन्द्रमा में रहनेवाले किसी आदमी की। इस प्रकार भारत सरकार और हमारे बीच में। वफादारी का कोई आधार नहीं है। अतः मैं गैर-वफादारी या विद्रोह फैलाने का अपराधी हो ही नहीं सकता। अब एक शब्द आपके क्षेत्र के बारे में। चूँकि भारत की वर्तमान सरकार ने जनता के अधिकारों को जबरदस्ती हड़प लिया है और

ऐसी सरकार के बनाये हुए कानून केवल कार्यकारिणी के फरमानमात्र हैं, क्योंकि विधान-सभाओं को सरकार की कार्यकारिणी की इच्छाओं के विपरीत कानून बनाने का अधिकार ही नहीं है; इसीलिए आपका जनता की सत्ता और प्रभुत्व में कोई हिस्सा नहीं है। आप केवल कार्यकारिणी के अंग हैं। इसलिए मैं आपके कार्यक्षेत्र में नहीं आता और इसीलिए मैं कानूनी कार्यवाही के इस नाटक में भाग लेने के लिए मजबूर नहीं हूँ।" उन्होंने आगे कहा, "मैं आपसे ईमानदारी से प्रार्थना करता हूँ कि इस सरकारी हित से आप अपना संबंध तोड़ लें। यह यंत्र आपके अपने लोगों का खून पी रहा है। आप शोषकों और हड़पनेवालों के जिस सिंहासन पर बैठे हैं, उससे नीचे उतर आयें और इस आवश्यकता के अवसर पर अपने देश के लोगों का साथ दें। क्या आपके कानों तक आपके देश के लोगों की कष्ट और वेदना की गाथा नहीं पहुँची ? देश के लोगों का निवेदन खाली नहीं जायगा। हम प्रतीक्षा करते हैं और मैं जानता हूँ, हमारी प्रतीक्षा व्यर्थ नहीं जायगी।··· चूँकि इस गैरकानूनी सरकार की जनता में कोई जड़ नहीं है, इसलिए ऐसी सरकार के सामने कोई जमानत देना मैं विद्रोह मानता हूँ।" इस धधकते बयान के बाद कुमारप्पा को सजा मिलना स्वाभाविक ही था और उन्हें अपने विद्रोह का पुरस्कार डेढ़ साल की सखत सजा में दिया गया और गांधीजी के शब्दों में, सचमुच विद्रोही कुमारप्पा का बयान इस सजा के लायक ही था।

दूसरी बार दूसरे वर्ष जब वे फिर गिरफ्तार किये गये तो उन्होंने अपने बयान में कहा, "हमारी प्रत्येक साँस वर्तमान शासन-पद्धति को समाप्त करने के लिए है। आज की परिस्थितियों में किसी भी आत्मसम्मानयुक्त नागरिक के लिए, जिसकी आत्मा मर न गयी हो, यह असम्भव है कि वह चुपचाप बैठा रहे और देशभर में गैरकानूनी कानून को इस प्रकार से चलता हुआ देखता रहे तथा अपनी मातृभूमि के प्रति अपने कर्तव्य का पालन न करे।" उन्होंने यह भी कहा, "इस समय मैं आपके अधिकार में हूँ और मैं आपको चुनौती देता हूँ कि आप मेरे साथ जैसा चाहे करें, लेकिन मैं आपको

इतना यकीन दिलाना चाहता हूँ कि वर्तमान दमनकारी नीति लोगों को सरकार के अधिकाधिक विरुद्ध कर देगी।" कहना न होगा कि इस बार भी सरकार की ओर से कुमारप्पा को ढाई वर्ष का सपरिश्रम कारावास का उपहार मिला।

दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान जब अंग्रेजी साम्राज्यवादियों ने युद्ध को चलाने के लिए गरीब भारतीय जनता का खुलेआम निर्लज्ज शोषण आरम्भ किया, तो कुमारप्पा का विद्रोही मन रुक न सका। उन्होंने ग्रामोद्योग-पत्रिका के दिसम्बर १९४२ के अंक में 'रोटी के बजाय पत्थर' शीर्षक से एक कड़ा लेख लिखा। उसमें उन्होंने बताया कि किस तरह से मुद्रा-स्फीति के द्वारा सैकड़ों-करोड़ों का शोषण किया गया है। कुमारप्पा को फिर ढाई साल की कड़ी सजा सुनायी गयी। उनके इस बयान का एक अंश 'मुद्रा-स्फीति : इसके कारण और इलाज' इस शीर्षक से छपा और सरकार द्वारा तुरन्त जब्त कर लिया गया।

हिन्दुस्तान आजाद हुआ, लेकिन विभाजित होकर। केन्द्र में तथा प्रान्तों में कांग्रेस-सरकारें बनीं, लेकिन वे गांधीजी के आदेशों, कांग्रेस के प्रस्तावों और परम्परा के अनुकूल कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन, प्रशासन की पद्धति और कार्यक्रमों में लाने के बजाय अंग्रेजों के शासन-तंत्र और कार्य-पद्धति को ही अपनाती चली गयीं। एक तरह से 'चलती हुई दूकान' अपने हाथ में ली और जिस तरह वह पहले से चलती आ रही थी, उसी तरह से वे उसे चलाने लगे। उन्होंने अंग्रेजों के जूते में पैर डाला और उसीको घसीटने लगे। कुमारप्पा आजादी के तुरन्त बाद ही इस नतीजे पर पहुँच गये कि आजादी वास्तव में न गाँव तक पहुँची है और न गाँवों के लोगों की जिन्दगी को उसने स्पर्श किया है। उनका यह विश्वास बन गया कि इस आजादी का अर्थ इस देश में इतना ही हुआ कि ब्रिटिश नौकरशाही की जगह भारतीय नौकरशाही ने ले ली है। कुमारप्पा का विद्रोही दिल और दिमाग इसको किस प्रकार बर्दाश्त कर सकता था? अक्तूबर १९४८ में आजादी का एक साल खतम होने पर उन्होंने लिखा, "किसी भी पहलू से हम देखें–

भोजन, खाद्य या आवास की हालत निश्चय ही पहले से खराब है। भूख और मौत बहुतों के सामने है। राशनिंग और कंट्रोल ने भारी बर्बादी की है और ऐसे काले बाजार पैदा किये हैं, जिनका रंग प्रतिदिन अधिकाधिक काला होता जाता है। नकद पैसे देनेवाली फसलें (Cash crops) बढ़ती जा रही हैं, ताकि बिचौलिये कच्चे माल का निर्यात कर सकें। हमारी सरकारें अन्धी होकर इंग्लैण्ड जैसे देशों के तरीके अपना रही हैं और वह भी उदासीनतापूर्वक।··· गांधीजी को देशभर में राष्ट्रपिता कहा जाता है। पर इस देश की किसी सरकार ने देश के लिए गांधीजी के आदेशों को स्वीकार नहीं किया है। निश्चय ही गांधीजी या तो किसी दानव के पिता हैं या निपूते बापू हैं। गांधीजी को राष्ट्रपिता तभी माना जायगा, जब देश आम जनता के कल्याण पर आधारित उनके कार्यक्रम को स्वीकार कर ले।"

अगले वर्ष उन्होंने 'क्रान्ति के चिह्न' शीर्षक से एक लेख लिखा, जिसमें उन्होंने कहा, "अंग्रेज चले गये हैं, लेकिन उन्होंने एक ऐसी परम्परा अपने पीछे छोड़ी है, जिसने हममें से कुछ के जीवन में बहुत गहरी जड़ पकड़ ली है। विलासिता ह्रास का चिह्न है···अगर देश उपयोग, सुविधा और विलास की ओर बढ़ता है तो यह खतरे का संकेत है। यह स्थिति हमारे देश में तेजी से हावी होती जा रही है। नयी दिल्ली में इसके लक्षण बहुत स्पष्ट हैं। हिन्दुस्तान की तस्वीर एक ऐसे भिखारी की है, जिसके कपड़े फटे हुए हैं, पेट खाली है, पर वह बटन के छेद में फूल लगाकर इतरा रहा है। हमें आश्चर्य है कि जो यह सब कर रहे हैं उन्हें यह विसंगति क्यों नहीं खलती? बेशक इन सबसे रहन-सहन का स्तर बढ़ रहा है। यार्क रोड का भवन प्रधानमंत्री के लिए बहुत ठीक नहीं था, इसलिए उन्हें प्रधान सेनापति के महल में जाना पड़ा। मंत्रीगण एक-दूसरे से होड़ कर रहे हैं और उद्यान-भोज दे रहे हैं। लेकिन उन्होंने गरीब जनता को कुल मिलाकर क्या लाभ पहुँचाया, इसका हिसाब किया जाय तो उत्तर में शून्य ही आयेगा। हमें भय है कि ये सब रूसी जारशाही के आखिरी दिनों की हालत की याद दिलाते हैं। हम आशा करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि इन लक्षणों

का परिणाम भारत के लिए वैसा ही नहीं होगा। एक ओर शाही ठाटबाट और दूसरी ओर भयंकर अभाव और गरीबी, इसी मसाले से क्रान्तियों का निर्माण होता है। ये हालात हमारे मुल्क में अधिकाधिक स्पष्ट होते जा रहे हैं।"

१९५० में उन्होंने मदुराई के जमींदारों की एक बैठक में कहा, "जमीन की कोई निजी सम्पत्ति नहीं होनी चाहिए। उसका स्वामित्व समाज में निहित रहना चाहिए।" उन्होंने उन कानूनों का जिक्र किया, जिसके अन्तर्गत नीलकोडइ तालुका के लोगों के गुड़ बनाने पर रोक लगा दी गयी थी और गन्ना पैदा करनेवालों को निश्चित कीमत पर चीनी-मिल को गन्ना बेचने पर विवश किया गया था। कुमारप्पा ने कहा, "जिस देश में ऐसा कानून हो सकता है, उस देश का नागरिक होने में मुझे शर्म आती है।"

विनोबाजी की भाँति कुमारप्पा के विचार में भी यह परिवर्तन आया कि अब सभी कार्यकर्ताओं को अपनी शक्ति भूमि और खेती के मामलों पर केन्द्रित करनी चाहिए। कृषि-सुधार-कमेटी के अध्यक्ष की हैसियत से उन्हें उन समस्याओं को तथा देश के करोड़ों भूमिहीन मजदूरों की परिस्थिति और कमियों को जानने का अवसर मिला था। वे भूमिहीन मजदूरों के समर्थक बन गये और उन्होंने अ० भा० ग्रामोद्योग-संघ के मंत्री तथा अध्यक्ष-पद के काम को छोड़ दिया और साठ वर्ष से ऊपर की अवस्था हो जाने पर भी कृषि-सम्बन्धी शोध, अध्ययन और प्रशिक्षण के कामों को अपनाया। उसके लिए उन्होंने शेल्डोह ग्राम में पन्नयी-आश्रम की स्थापना की। कुमारप्पा का यह कदम उनकी क्रान्तिकारी दृष्टि का सूचक था।

लेकिन कुमारप्पा का स्वास्थ्य साथ नहीं दे सका। उनका चित्त बहुत भावनापूर्ण था। इसलिए राष्ट्रीय आन्दोलन के समय में और उसके बाद भी शोषण और अन्याय के विरुद्ध, दिखावे और विलासिता के विरुद्ध उनके दिमाग पर हमेशा गहरा तनाव बना रहता था। साढ़े छह वर्ष के लम्बे जेल-जीवन की तनहाई और कड़े परिश्रम ने उनके शरीर और दिमाग दोनों को तोड़ दिया था। इसलिए उच्च रक्त-चाप की शिकायत बरसों से

थी। फिर दो बार पक्षाघात का आक्रमण भी उन पर हो चुका था। इसलिए उन्हें सक्रिय जीवन से अवकाश लेना पड़ा। पर उनके मन की निराशा, चारों ओर की परिस्थिति पर क्षोभ और नाराजगी कम नहीं हुई। देश का सारा प्रवाह, सरकारी और गैर-सरकारी, गांधीजी के आदर्शों के विपरीत जिस तेजी से बढ़ता गया, उसने उनके रोष को और भी बढ़ा दिया। परिणाम यह हुआ कि क्रान्तिकारी कुमारप्पा सार्वजनिक जीवन से अवकाश लेने के बाद भी वास्तविक विश्राम और शान्ति नहीं प्राप्त कर सके और क्रान्ति की आग उनके दिल में हमेशा धधकती रही, जो कभी-कभी उनकी तेजस्वी और अग्निमयी वाणी से प्रकट होती थी; बाकी समय वह उनके शरीर और मन को ही जलाती रहती थी। ●

तीन

ईसामसीह के क्रान्तिकारी अनुयायी

जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, कुमारप्पा ने दक्षिण भारत के एक भक्त ईसाई परिवार में जन्म लिया था। वह धर्म उन्हें माता-पिता से और जन्म से प्राप्त हुआ था। यद्यपि उन्होंने पादरियों की तरह से धर्मशास्त्रों का विस्तृत अध्ययन नहीं किया था, पर ईसामसीह के सन्देश और ईसाई-धर्म की आत्मा को उन्होंने गहराई के साथ आत्मसात् किया था। वे ईसामसीह के गिरि-प्रवचन (Sermon on the Mount) की भावना के बड़े समर्थक थे और आजीवन गांधीजी की तरह उसे जीवन में उतारने का प्रयत्न करते रहे।

कुमारप्पा अपने-आपको सच्चा ईसाई मानते थे और सामान्य ईसाइयों के दृष्टिकोण तथा ईसाई सम्प्रदायों की जो प्रचलित मान्यताएँ थीं, वे उन्हें वास्तविक ईसाई धर्म के प्रतिकूल लगती थीं। उनका मानना था कि गांधीजी का अंग्रेजों के विरुद्ध अहिंसक राष्ट्रीय आन्दोलन ईसाई धर्म की सच्ची भावना के अनुकूल था। ईसाई धर्म-नेताओं द्वारा इस आन्दोलन का विरोध किया जाय, इसको धार्मिक दृष्टि से वे उचित नहीं मानते थे। उन्होंने १९३० में ईसाई कार्यकर्ताओं और पादरियों के नाम एक अपील निकाली थी। उस अपील में उन्होंने कहा, "दुनियाभर में विचारवान् लोग इस खोज में हैं कि युद्ध का नैतिक प्रतिरूप (Moral equivalent) क्या हो सकता है, जिसके द्वारा राष्ट्रीय विवादों की समाप्ति हो सके। हमारी आँखों के सामने गांधीजी व्यावहारिक तरीकों से युद्ध का स्थान प्रेम के संदेश को दे रहे हैं।···जो लोग शान्ति के उस (ईसामसीह) सम्राट् का अनुसरण करने का दावा करते हैं, जिसका झण्डा ही प्रेम का है, उनका इसमें क्या योगदान होगा? इस अवसर पर हमारे कंधों पर बड़ी जिम्मेदारी है, जिससे हम दूर नहीं भाग सकते। आज हमारे सामने ही एक ऐसा अवसर आया है, जैसा पहले कभी ईसाई धर्म के सामने नहीं आया। क्या हम करुणा-सागर महापुरुष की उस वाणी को नहीं सुनते 'जो स्वयं अपना सलीब लेकर नहीं चलता और जो मेरा अनुसरण नहीं करता, वह मेरे उपयुक्त नहीं है।' हमें चुनाव करना ही होगा।

"मैं अच्छी तरह इस बात को समझता हूँ कि हमारे राजनीतिक विचारों में ईमानदारी के साथ अन्तर हो सकता है और हम एक-दूसरे से बहुत दूर हो सकते हैं। ऐसे भी हैं, जो राष्ट्रीय आन्दोलन के अनुकूल हैं और ऐसे भी हैं, जो ईमानदारी से यह विश्वास करते हैं कि राष्ट्रवादी लोग गलती पर हैं। लेकिन अहिंसा के बारे में राय का कोई फर्क नहीं हो सकता, क्योंकि ईसाइयों को तो ईसामसीह का आदेश है, 'जो तुम्हारे दायें गाल पर चाँटा मारे, तुम अपना बायाँ गाल भी उसकी ओर कर दो।' उनका यह भी उपदेश है कि बुराई का बदला भलाई से लिया जाय।"

उन्होंने यह अपील कलकत्ता के लॉर्ड बिशप और भारत के मेट्रापॉलिटन डॉ० वेस्टकॉट को भी भेजी। डॉ० वेस्टकॉट ने यह समझा कि श्री कुमारप्पा की अपील गांधीजी के सविनय अवज्ञा-आन्दोलन का समर्थन करने की है। उन्होंने ऐसा करने से इनकार कर दिया। इसका जो उत्तर उन्होंने दिया, वह एक ऐतिहासिक पत्र हो गया है। उसमें उन्होंने फिर स्पष्ट किया है कि वे गांधीजी के राजनैतिक आन्दोलन का समर्थन करने की अपील नहीं कर रहे थे, बल्कि उनका अनुरोध अहिंसा के समर्थन का था। इस पत्र में उन्होंने इस बात को स्पष्ट कर दिया कि ईसाई धर्म के पादरी तथा अन्य नेता अंग्रेज पहले हैं और ईसाई बाद में। उन्होंने कड़े शब्दों में यह बतलाया कि किस प्रकार विश्व-युद्ध के समय में चर्च के प्रत्येक उपदेश तथा मंत्र को फौजी भरती करनेवाले सार्जेंट का मंत्र बना दिया गया। ईसामसीह के उपदेशों को उनके संदर्भ से अलग कर दिया गया और राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति की दृष्टि से अनेक अंशों को तोड़-मरोड़कर आंशिक रूप से सामने रखा गया। इस प्रकार पादरियों ने अपने धर्मानुयायी लोगों को गुमराह किया। इसके साथ ही उन्होंने ईसामसीह के विचारों के आधार पर भारतीय आन्दोलन का समर्थन किया। उन्होंने कहा, "भारत के वर्तमान आन्दोलन में सत्याग्रही भारत में इंग्लैण्ड द्वारा लागू की गयी सारी शासन-पद्धति के असामाजिक स्वरूप को अनुभव करते हैं, जिसके द्वारा नमक-कानून, शराब की बिक्री आदि को प्रोत्साहन दिया जाता है और वे यह समझ रहे हैं कि आधुनिक आदमी कर देने के लिए ही बना है। वे ऐसे कानूनों को तोड़ रहे हैं, जो अनैतिक हैं। वे इस बात से नहीं डरते हैं कि सरकार उनके शरीरों को कष्ट देकर मशीनगनों के जरिये या सभ्यता के अन्य उपकरणों से नष्ट कर सकती है और ये फरोहा के नौकर तथा हिरोद के समर्थक ह्वाइट हाल में यह सलाह कर रहे हैं कि वे भारत में ईसामसीह के सबसे बड़े दूत को किस प्रकार नष्ट कर दें।···सत्याग्रही लोग आजकल के अत्याचारियों की अदालत में भी ईसामसीह के पद-चिह्नों पर चलते हैं।···सत्याग्रही ठीक उसी तरह

से अदालतों की कार्यवाही में भाग नहीं लेते, जिस प्रकार ईसामसीह ने नहीं लिया था।"...

कुमारप्पा ईसाई धर्म के वर्तमान स्वरूप का विरोध करते थे। उनका मानना था कि आज का ईसाई धर्म एक नपा-तुला, सुविधापूर्ण, स्वार्थी और वैयक्तिक धर्म बन गया है, जो अपने हितों की रक्षा में संलग्न है, जब कि ईसामसीह का शुद्ध धर्म अपने विस्तार के लिए सामूहिक, सामाजिक संगठन की पृष्ठभूमि चाहता है, जिसका विकास हम भारत के हिन्दू-धर्म में देखते हैं। उन्होंने लिखा, "इसका एक उदाहरण लें। संयुक्त परिवार-प्रथा में योग्य और अयोग्य, धनी और गरीब, भाग्यशाली और अभागे, सब साथ रहते हैं और सर्वसामान्य आमदनी में से अपना हिस्सा प्राप्त करते हैं। निश्चय ही इस प्रथा में अपनी कमजोरियाँ भी हैं, लेकिन यह अपने पड़ोसी से अपने समान ही प्रेम करने की दिशा में एक स्पष्ट प्रयत्न है।"

उन्होंने यह भी कहा कि ईसाई धर्म अपने विशुद्ध रूप में भारतीय संस्कृति के बहुत अनुकूल है। इसके विपरीत ईसाई धर्म का जो रूप हम आज अपने सामने देखते हैं, वह हमारी संस्कृति के बिलकुल प्रतिकूल और अलग है। ठाट-बाटवाले समारोह, पादरियों के प्रति अधीनता, धर्म-परिवर्तन कराने की आक्रामक भावना और राज्य के पैरों पर झुकने की मनोवृत्ति इस देश में नहीं मिलती।...पश्चिम के लोगों ने धर्म का केन्द्रीय-करण कर दिया है। इस देश में जीवन के प्रत्येक विभाग में हमारे तरीके विकेन्द्रित रहे हैं। ईसामसीह की भी यही पद्धति थी। ईसामसीह का धर्म बहुत वैयक्तिक था, जब कि आज के ईसाई सम्प्रदाय केन्द्रित संगठन और प्रशासन के सर्वोत्तम नमूने बन गये हैं।...भारतीय संस्कृति में ईसामसीह के विशुद्ध धर्म की फसल के लिए खेत तैयार हैं, लेकिन यहाँ आधुनिक ईसाई धर्म के लिए कोई जगह नहीं है।

गांधीजी की तरह ही कुमारप्पा की भी भावना थी कि धर्म मनुष्य के जीवन के किसी सीमित क्षेत्र के लिए नहीं है, या धर्म कुछ निश्चित और सीमित कर्मकाण्डों में ही निहित नहीं है, बल्कि उसका व्यवहार जीवन के

प्रत्येक क्षेत्र में होना आवश्यक है। उनका मानना था कि "जरूरतमंदों की सेवा में समर्पित जीवन बिताकर ही हम भगवान् के प्रति अपना प्रेम प्रकट कर सकते हैं। हमें बीमारों का इलाज करना चाहिए और अनपढ़ों को ज्ञान देना चाहिए, लेकिन इतना ही काफी नहीं है। जैसे-जैसे मानव-जीवन का विकास होता है और समाज का स्वरूप अधिकाधिक जटिल होता है, वैसे-वैसे उपयोगिता और सेवा के क्षेत्र व्यापक होते जाते हैं। आज जीवन के बड़े-बड़े व्यवहार निःस्वार्थ कार्यकर्ताओं का आवाहन कर रहे हैं। धार्मिक लोगों को गिरजाघरों की चहारदीवारियों तक सीमित नहीं रहना है। जीवन का प्रत्येक क्षेत्र उनके प्रकाश का इच्छुक है। इसके प्रत्येक विभाग में उनके द्वारा सुधार की अपेक्षा है। सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक जगत् में बहुत सुधार चाहिए।

"हमने पाया है कि ईसामसीह का लक्ष्य कानून के अन्तर्गत जीवन के बाहरी नियन्त्रण के बजाय अपनी आत्मा के आंतरिक अनुशासन पर अधिक है। इस प्रकार का जीवन स्वाभाविक रूप से अन्त में हमें अपनी इच्छाओं के पूरे नियंत्रण की तरफ ले जायगा, न कि उसके विस्तार की ओर। इसलिए पश्चिम का वर्तमान अर्थशास्त्र, जो आवश्यकताओं को बढ़ाने और उनकी पूर्ति पर आधारित है, ईसामसीह की शिक्षाओं के बिलकुल ही विपरीत है।

"धनी युवक-शासक को ईसामसीह के द्वारा दिया गया उपदेश, 'जो कुछ तेरे पास है, बेच दे और गरीबों को दे दे।' यह वचन केवल भौतिक संपत्तियुक्त धनवानों पर ही लागू नहीं होता, बल्कि हरएक व्यक्ति पर लागू होता है, जिसके पास कोई भी ऐसी चीज हो, जिसकी दूसरों के पास कमी हो। उक्त शासक विशेष रूप में धनी था। सोना-चाँदी हमारे पास न हो, लेकिन जो कुछ भी हमारे पास हो, उसका उपयोग भगवान् की विविध कृपाओं के भले विश्वस्त (ट्रस्टी) के रूप में जरूरतमंदों की सेवा में करना, ईसामसीह का आदेश है। कोई शारीरिक स्वास्थ्य और शक्ति में धनी हो सकता है, कोई सामान्य बुद्धि में, जो प्रायः विरल

होती है, कोई सामाजिक प्रभाव में, दूरदर्शिता में, स्वाभाविक संगठन-शक्ति में, व्यापारिक योग्यता और औद्योगिक बुद्धिमानी में, शिक्षण-योग्यता में, प्रशासनिक क्षमता में, व्यावहारिक कलाओं जैसे–संगीत, चित्रकला आदि या किसी व्यावसायिक शिक्षण—जैसे दवा, कानून आदि में, शोध और जाँच की पद्धतियों में, खेती, वनविद्या, भूगर्भ-विद्या आदि में। सब कुछ बिना बदले की आशा के समर्पित करना है।"

कुमारप्पा का ईसाई धर्म के सम्बन्ध में और ईसामसीह के निर्देशों के बारे में जो उदार और क्रांतिकारी दृष्टिकोण था, उस दृष्टिकोण को उन्होंने अपने जीवन में उतारने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया। वैसे बचपन से ही उन्हें उनकी माता ने अण्डे बेचकर जो पैसा मिले, उससे गरीब विद्यार्थियों की मदद करने का व्यावहारिक ईसाई-मत का पाठ पढ़ाया था और बड़े होने पर अपनी आमदनी का एक निश्चित हिस्सा संकटापन्न लोगों की मदद के लिए देने की परम्परा उनके परिवार में चलती थी, जिसके कारण ईसाई धर्म की दान और सेवा की परम्परा उनमें आरंभ से ही विकसित हो गयी थी। पर गांधीजी के संपर्क में आने के बाद तो वे पूरी तरह ईसामसीह की सेवा, त्याग और समर्पण की भावनाओं से ओत-प्रोत होते चले गये थे। उनके जीवन की भौतिक आवश्यकताएँ बहुत ही कम हो गयी थीं। उनकी रहन-सहन और कपड़े-लत्ते बहुत सादे बन गये थे। उन्होंने पूर्ण शाकाहार को अपना लिया था। वे दरिद्रनारायण की सेवा में इतने घुल-मिल गये थे कि उनके विद्यार्थी और उनके साथी ही उनका परिवार बन गये थे। उनका अपना कोई परिवार था ही नहीं। कुमारप्पा ने विवाह नहीं किया, कोई व्यक्तिगत संपत्ति अर्जित नहीं की और भारत के करोड़ों गरीबों की गरीबी कैसे दूर हो, भिक्षा के द्वारा नहीं, सम्मानपूर्ण और स्वतन्त्र रोजगार के द्वारा, उसका सैद्धान्तिक शोध और तत्संबंधी प्रयोगात्मक और व्यावहारिक तथा व्यापक प्रयत्न वे आजीवन तथा निरंतर करते रहे।

'सही अर्थशास्त्र की प्रतिष्ठा और विकास के माध्यम से युद्ध का विरोध और विश्व-शान्ति की स्थापना'—यह मान्यता उनके ईसाई-हृदय

और ईसाई व्यक्तित्व का परिणाम थी। शोषण और अन्याय का तीव्र, पर अहिंसक, विरोध वे ईसामसीह के व्यक्तित्व और उपदेश को ठीक तौर से समझने और जो समझ लिया, उसे पूरी तरह अपने जीवन में और समाज में लाने के प्रयास में ही करते थे।

कुमारप्पा ने साधुओं की तरह कपड़े रँगे नहीं, पादरियों की तरह विशिष्ट प्रकार की पोशाक पहनी नहीं, पर अपने जीवन और व्यवहार से वे ईसामसीह के सच्चे अनुयायी और ईसाई धर्म के सच्चे ज्ञाता थे। गांधीजी ने कुमारप्पा को डी० डी० (Doctor of Divinity), धर्मशास्त्र के महाविद्वान् की जो उपाधि प्रदान की थी, वह केवल विनोद नहीं था, बल्कि वह गांधीजी के मन में कुमारप्पा के ईसाई धर्म के विशाल ज्ञान और उसके व्यवहार के प्रति सम्मान और अभिनन्दन का प्रतीक थी।

कुमारप्पा ने मगनवाड़ी के उद्योग-भवन में ईसामसीह की जो सुन्दर और विशाल मूर्ति रखवायी थी, यह मूर्ति भी उस स्थिति को अभिव्यक्त करती थी, जब ईसामसीह को शहादत के बाद सूली पर से उतारकर नीचे लिटाया गया। यह मूर्ति जहाँ एक ओर ईसामसीह के महान् बलिदान का सूचक है, वहाँ सच्चे सत्याग्रही और सेवक के लिए प्रेरणा और आदर्श की प्रतीक भी है। उस मूर्ति के नीचे जो लेख है, उसका एक भाग इस प्रकार है, "कष्ट-सहन और बलिदान की भावना, जो सारे सत्याग्रहियों का लक्ष्य होना चाहिए, उसके प्रतीक के रूप में यह मूर्ति यहाँ लगायी गयी है। इसमें सलीब से उतारे जाते हुए ईसामसीह का चित्रण है। अपने समय के नेताओं के द्वारा वे इसलिए सूली पर चढ़ाये गये, क्योंकि अपने शुद्ध जीवन और सत्य के अडिग समर्थन के कारण वे उस समय के बुरे रीति-रिवाजों और परम्पराओं के असह्य आलोचक साबित हुए। उन्होंने अपने आदर्शों की पूर्ति के लिए अपने प्राणों का बलिदान कर दिया।" कुमारप्पाजी ईसामसीह की इसी गहरी व पूर्व परम्परा में बुराई और ढोंग के आजीवन कटु आलोचक, कठोर जीवन बितानेवाले और निरन्तर दुःखी-गरीबों की सेवा करनेवाले थे।

●

चार

पक्के देशभक्त और सच्चे लोकतान्त्रिक

कुमारप्पा का जन्म ईसाई परिवार में हुआ था और उनकी आरंभिक शिक्षा-दीक्षा भी मद्रास प्रान्त के अंग्रेजी स्कूलों में हुई थी, इसलिए यह स्वाभाविक था कि उनके प्रारंभिक जीवन में रहन-सहन और विचार की दृष्टि से भारतीयता की अपेक्षा अंग्रेजियत का ज्यादा प्रभाव होता। पर जब वे अमेरिका गये और वहाँ भारतीय वित्त-व्यवस्था और उसके द्वारा भारतीय जनता के शोषण तथा उसमें से उत्पन्न गरीबी का अध्ययन किया तो उनमें एक प्रकार से वैचारिक और हार्दिक क्रान्ति हुई। भारतीयता का रंग जो धुँधला पड़ा हुआ था, वह धुलकर निखर आया और गहरा हो गया। इसका पहला बड़ा संकेत उनके सार्वजनिक रूप से नाम के परिवर्तन में प्रकट हुआ। वे जे० सी० कारनेलियस से जे० सी० कुमारप्पा हो गये।

दूसरा बड़ा परिवर्तन उनमें १९२९ में आया, जब वे गांधीजी से मिले। उस समय तक उनके विचार और हृदय में यद्यपि भारतीयता समा चुकी थी, पर रहन-सहन और वेशभूषा में अभी तक पश्चिमी प्रभाव ही सर्वोपरि था। गांधीजी के संपर्क में आने के बाद उन्होंने खादी स्वीकार की और कोट-पैंट-टाई की जगह पाजामा या धोतीजामा व कुर्ता और टोपी ने ले ली। अब वे भीतर और बाहर दोनों तरफ से स्वदेशी बन गये।

भारत के आजादी के आन्दोलन में जिस तीव्रता और लगन के साथ उन्होंने भाग लिया, वह उनकी गहरी देशभक्ति और पक्की राष्ट्रीय भावना का सूचक है। भारत की आजादी के लिए कुमारप्पा आजीवन समर्पित रहे और इसके लिए वे देश की जनता को सदा प्रोत्साहित करते रहे। इस काम में उनकी वाणी उनके पास सबसे तेज और सबसे अधिक आक्रामक शस्त्र के रूप में थी। पहले यंगइण्डिया और बाद में ग्रामोद्योग-पत्रिका के सम्पादक के रूप में इस देश की आजादी के सम्बन्ध में और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध जो कड़े लेख उन्होंने लिखे, उनके कारण उन्हें सदा कड़े कारावास के उपहार मिले और साढ़े छह वर्ष उन्हें जेल की कालकोठरियों में बिताने पड़े। इसी कारण उनका शरीर सदा के लिए जर्जर हो गया।

कुमारप्पा स्वभाव से बहुत भावनाशील थे और उनमें देशभक्ति जितनी उत्कट थी, उतना ही उत्कट अंग्रेजों के अन्याय और शोषण के प्रति रोष भी था। जो उन्हें अनुचित लगता, उसके प्रति उनका रोष कटु से कटु भाषा में फूट पड़ता था। कहना न होगा कि अटूट देशभक्ति से उनका मन, विचार और शरीर तीनों ओतप्रोत थे और वह उनके चिन्तन, व्यव-हार और जीवन, तीनों से प्रतिक्षण प्रस्फुटित होती थी।

कुमारप्पा जितने देशभक्त थे, उतने ही लोकतांत्रिक भी थे। उनके लिए लोकतंत्र केवल शासन-व्यवस्था की एक पद्धतिमात्र नहीं था, बल्कि वह उनके लिए व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन-दर्शन था। वे पश्चिमी लोकतंत्र को केवल औपचारिक और कागजी मानते थे। उनका विश्वास माता के या पारिवारिक लोकतंत्र में था। उनका कहना था कि "माता तुम्हें भोजन देने से इसलिए इनकार नहीं करेगी कि तुम देर से घर पहुँचे हो, वह घर का संचालन कानून-कायदों से नहीं करती, बल्कि प्रेम से करती है। उसका प्रेमपूर्ण चिन्तन तुम्हारे साथ दिन के चौबीस घण्टे रहता है। ··· यह नैतिक, कर्तव्य-आधारित लोकतंत्र है। जो शक्ति काम में ली जाती है, वह रचनात्मक है। वह ध्वंसात्मक नहीं। इसके नियम न तो संदेह और कटुता उत्पन्न करते हैं और न चोरी के

तरीकों की तरफ ले जाते हैं। माता के प्रेम के कारण ही आप उसके दिल को चोट पहुँचाने से डरते हैं। ··· कानूनी लोकतंत्र ऊपर से शासन करता है। ··· धार्मिक (नैतिक) कर्तव्य-आधारित संविधान जिम्मेदारी की भावना प्रदान करता है। सबकी भलाई के लिए स्वयं कष्ट सहने की इच्छा पैदा करता है। यही धर्म है, नैतिक कर्तव्य की भावना है, जिससे मनुष्य का विकास होता है। तब मनुष्य केवल पशु नहीं रहता है, वह उससे आगे बढ़ता है और समूह की भाषा में सोचने लगता है।"

देशभक्ति और लोकतंत्र की इसी तीव्र भावना के कारण कुमारप्पा ने अपने जीवन में स्वावलम्बी बनने का प्रयत्न किया और रहन-सहन तथा व्यवहार में इतनी सादगी बरती। मगनवाड़ी में जब वे रहते थे तो कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण, सभा-सम्मेलन, चर्चा-प्रयोग आदि से लेकर रसोई बनाने तथा बर्तन माँजने तक के सभी कामों में क्रम के अनुसार नियमित रूप से तथा जोर देकर भाग लेते थे। यही नहीं, इसी लोकतांत्रिक भावना के कारण वे दूसरों को भी इसी प्रकार सब कामों में समान रूप से भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करते थे, यहाँ तक कि गांधीजी को भी बर्तन माँजने तक के कामों से रोकना उन्हें पसंद नहीं था।

एक बार गांधीजी मगनवाड़ी में रहने के लिए आये। एक दिन गांधीजी और कुमारप्पा दोनों की बारी रसोई के बड़े बर्तनों को माँजने की आयी। वे बर्तन बहुत काले और मैले थे। गांधीजी और कुमारप्पा कुएँ के पास उन बर्तनों को लेकर बैठ गये। नारियल के रेशे उन्होंने अपने हाथ में लिये, राख और मिट्टी अपने पास में रखी और लगन के साथ बर्तन माँजने लगे। गांधीजी के हाथ कोहनी तक पानी-मिट्टी और कालिख से भर गये। कुछ देर बाद कस्तूरबा आयीं और उन्होंने नाराज होकर गांधीजी के हाथों से काली देगची छीन ली और कुमारप्पा के साथ बैठकर बर्तन माँजने लगीं, पर कुमारप्पा ने न गांधीजी के काम में दखल दिया और न कस्तूरबा के काम में।

एक दूसरी घटना है, जिसका जिक्र श्री रामचन्द्रन् ने किया है, "कुमारप्पा एक दिन निश्चित समय से थोड़ा पहले रसोईघर में आये, क्योंकि उन्हें गाड़ी पकड़नी थी। उनके लिए रसोईघर के बाहर एक बेंच पर खाना परोस दिया गया, लेकिन वहाँ पर पानी का गिलास नहीं था। मैंने एक विद्यार्थी को आवाज दी कि वह दौड़कर पानी का गिलास ला दे। कुमारप्पा ने मुझसे धीरे से कहा, 'आप शोषक हैं। अगर आप स्वयं मेरे लिए पानी का गिलास लाते, तो मैं उसे आपके प्रेमपूर्ण कार्य के रूप में स्वीकार करता; लेकिन जब आप एक छात्र को आवाज देकर यह काम करने को कहते हैं, तो चिन्ता में पड़ जाता हूँ।' " यह घटना कुमारप्पा की सच्ची लोकतांत्रिक मनोवृत्ति की, नैतिक लोकतंत्र की, उनके विचार की सूचक है।

●

पाँच

तीखे व्यंग्य और सरल विनोद के धनी

यद्यपि कुमारप्पा का जन्म मद्रास प्रान्त में हुआ था, पर उनके पारिवारिक परिवेश, धर्म और शिक्षा के कारण उनके चिन्तन, बोलचाल और व्यवहार की भाषा अंग्रेजी ही बन गयी। थोड़ी-बहुत तमिल उन्हें आती थी, पर उन्हें अंग्रेजी का व्यवहार ही पसंद था। वे गुजरात विद्यापीठ में प्राध्यापक बने, तो वहाँ उनसे यह अपेक्षा थी कि वे हिन्दी सीख लेंगे और उसके बाद जब वे गुजरात के आंतरिक परिवेश में आर्थिक सर्वेक्षण

के लिए मातर तालुका में गये, तो यह समझा जाता था कि वे गुजराती समझने-सीखने का भी प्रयास करेंगे। काका कालेलकर ने, जो उस समय गुजरात विद्यापीठ के आचार्य थे, कुमारप्पा को अध्यापन के लिए कक्षाएँ देने से इनकार कर दिया, क्योंकि काकासाहब को अपने विद्यार्थियों के लिए शिक्षण का अंग्रेजी भाषा का माध्यम अभीष्ट नहीं था और कुमारप्पा को गुजराती या हिन्दी सीखकर विद्यार्थियों को पढ़ाना अरुचिकर लगा। यह अलग बात है कि गांधीजी ने इसका भी रास्ता निकाल लिया और 'बिना कक्षाओं के प्रोफेसर' को गुजरात विद्यापीठ से नहीं जाने दिया।

कुमारप्पा के लिए अंग्रेजी मातृभाषा, प्रादेशिकभाषा और सम्पर्क-भाषा सब कुछ थी। अंग्रेजी भाषा पर उनका असाधारण अधिकार था। अंग्रेजी के शब्द और मुहाविरे उनकी जबान से खेलते-कूदते निकलते मालूम होते थे। भाषा का प्रवाह बहुत ही स्वाभाविक होता था। शब्दों का चयन अत्यन्त उच्च कोटि का और पद्धति बहुत प्रभावपूर्ण होती थी। कुमारप्पा की बोलने और भाषण करने की सबसे बड़ी विशेषता उनकी स्पष्टवादिता थी, जिसमें तीखा व्यंग्य रहता था। कभी उसमें सादा विनोद शामिल होता था, तो कभी वे चिढ़ानेवाली हँसी से भी नहीं चूकते थे। यह व्यंग्य-विनोद ही कुमारप्पा के गम्भीर चिन्तन और कार्य-व्यवहार में प्राण डालनेवाला और उनके तथा उनके मित्रों, पाठकों और श्रोताओं के मन को हलका कर देनेवाला रहता था।

एक बार काकासाहब कालेलकर ने उनसे कहा, "अगर आप अपना शोखीभरा हास्य-विनोद छोड़ दें तो निश्चय ही ईसाई आपको संत के रूप में प्रतिष्ठित और मान्य कर लेंगे।" यह चर्चा उन्होंने कुमारप्पाजी द्वारा लिखित ईसाई धर्म के सम्बन्ध में दोनों उत्कृष्ट पुस्तकों के प्रकाशन के पश्चात् की थी। कुमारप्पा ने सरलता से उत्तर दिया, "यही तो संतपन से बचाव का मेरा रास्ता है।"

एक बार गांधीजी ने कांग्रेस-कार्यसमिति के सदस्यों को मगनवाड़ी

में भोज के लिए आमंत्रित किया। गांधीजी के भोजन-संबंधी प्रयोग तो चलते ही रहते थे। उन दिनों वे नीम की पत्तियों की चटनी का प्रयोग कर रहे थे। सभी आमंत्रितों को वह चटनी परोसी गयी। कुमारप्पा गांधीजी की दाहिनी तरफ बैठे थे और सरदार पटेल बायीं तरफ। कुमारप्पा ने अपने हिस्से की चटनी प्रारंभ में ही खा डाली। गांधीजी ने जब उनकी थाली देखी तो उदारतापूर्वक अपने हिस्से की बहुत-सी चटनी भी उनको परोस दी और शरारत के साथ मुस्कराने लगे। सरदार पटेल ने कहा, "कुमारप्पा, बापू ने पहले बकरी का दूध पीना शुरू किया, अब वे बकरी का चारा भी खाने लगे हैं।" यह सुनकर सब लोग हँस पड़े।

सरदार पटेल के साथ का ही एक दूसरा प्रसंग है। एक बार नयी दिल्ली के वाइसराय-भवन में एक बैठक का आयोजन था, जिसमें कुमारप्पा भी शामिल थे। कुमारप्पा वहाँ कुछ मिनट पहले पहुँच गये और वाइसराय के भवन की वास्तुकला का सौंदर्य देखने लगे। सरदार पटेल पीछे की तरफ से आ रहे थे। उन्होंने कुमारप्पा से मजाक में पूछा, "कुमारप्पाजी, आपको यह झोंपड़ा कैसा लगा?" कुमारप्पा ने जवाब दिया, "सरदारजी, आप मेरी राय पूछते हैं क्या?" यह कहकर वे जरा हटे और ऊपर-नीचे सब तरफ देखकर बोले, "यह मकान मगनवाड़ीवाले मेरे महल से कुछ इंच अधिक लम्बा है, कुछ इंच चौड़ा है, कुछ इंच ऊँचा है।" सब लोग हँसते हुए अन्दर गये। वाइसराय-भवन में सभी कमरे और गलियारे बिजली की रोशनी से चमचमा रहे थे। इस पर कुमारप्पा ने कहा, "सरदारजी, मेरे झोंपड़े में और इस झोंपड़े में एक और फरक है। अपने यहाँ हम सब चीजों को दिन के प्राकृतिक प्रकाश में देखते हैं, पर यहाँ तो सब चीजें कृत्रिम रोशनी में ही देखी जाती हैं!" और यह बात अनेक अर्थों में सही है।

उनका यह प्रसंग तो प्रसिद्ध ही है। एक बार एक धनाढ्य उद्योगपति अपनी खान दिखाने के लिए उन्हें ले गया। बहुत परिश्रम और समय लगाकर उद्योगपति ने अपनी खान और सारी व्यवस्था उन्हें बतलायी। बाद में उनसे खान की व्यवस्था के संबंध में सुझाव माँगा। कुमारप्पा ने उन्हें एक

ही सुझाव दिया कि 'इस खान को बन्द कर दीजिये।' इसी प्रकार एक बार दिल्ली में एक जगह ठहरे हुए थे, तो उनकी मेजवान ने टाटा का साबुन उनके हाथ धोने के लिए रख दिया। कुमारप्पा ने बाद में कलेवे के वक्त उस साबुन को एक प्लेट में रखकर उस बहन के सामने कलेवे के रूप में प्रस्तुत किया। वह बहन हक्की-बक्की रह गयी। कुमारप्पा बोले, "इस साबुन से हाथ धोना मलाबार-निवासियों के खून से हाथ धोना है, क्योंकि वहाँ टाटा ने चावल के खेतों को उजाड़कर नारियल के पेड़ उगा लिये हैं और उसी तेल से यह फैशनेबल साबुन बनता है।"

कुमारप्पा ने भारत और पाकिस्तान द्वारा अपने राष्ट्रीय बजट का ४७ प्रतिशत और ५५ प्रतिशत फौज पर खर्च करते हुए देखकर यह आलोचना की, "हमारी राय उस गरीब आदमी के बारे में क्या होगी, जो अपनी आमदनी का लगभग आधा भाग अपने खाली घर की रक्षा के लिए चौकीदार रखने पर खर्च कर डालता है।"

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्रसंघ के संगठन के पूर्व होनेवाले सैनफ्रांसिसको-सम्मेलन के संबंध में उन्होंने लिखा, "अब फिर जर्मनी हरा दिया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय गिद्ध मुर्दे के स्थान पर इकटठे हो गये हैं। जर्मनी के द्वारा पेटेण्ट किये गये आविष्कार और पद्धतियों के सम्मिलित उपयोग के लिए मुख्य राष्ट्रों ने एक योजना तैयार की है और मालूम नहीं, किसके द्वारा भारत को भी इस व्यवस्था में घसीट लिया गया है।

"जब हम जान-बूझकर चोरी का माल खरीदते हैं, तब हम नैतिक रूप से माल खरीदने के पूर्व उस चोरी के जिम्मेदार हो जाते हैं। भारत ने इस लड़ाई में शामिल होने से इनकार किया। क्या अब हम उस विनाश की नैतिक जिम्मेदारी ओढ़े बिना इस लूट के माल में हिस्सा माँग सकते हैं? क्या हम अपने देश में उन जर्मन कारखानों को खरीदकर ला सकते हैं, जिन्हें मित्र राष्ट्रों ने हरजाने के रूप में लिया है। भारतीय व्यापार-मंडल ने बिक्री के लिए मौजूद ऐसे ५१ जर्मन युद्ध कारखानों की सूची प्रचारित की है। उन पर अन्याय, निर्दयता, लालच और मानवीय खून के

धब्बे अंकित हैं। क्या हम इन्हें अपने हाथ में लेने को तैयार हैं? अगर हम ऐसा कर लेते हैं तो अंग्रेजों और अमेरिकनों से कम साम्राज्यवादी नहीं ठहरते। अगर भारत सभी पददलित राष्ट्रों की स्वाधीनता का समर्थक है तो हमारी राष्ट्रीय सरकार को ऐसी लूट का विरोध करना चाहिए और ऐसे पापपूर्ण माल के आने पर रोक लगानी चाहिए।"

कुमारप्पा के 'रोटी के बदले पत्थर' और डॉक्टर वेस्टकॉट को लिखे गये पत्र तो उनके तीखे व्यंग्य के लिए प्रसिद्ध ही हैं। कुमारप्पा के इन तीखे व्यंग्य-विनोद के पीछे न केवल भाषा का प्रचंड पांडित्य था, बल्कि उनकी सचाई और स्पष्टवादिता भी इसमें पूरी तरह निखरी थी। इसके अलावा उनके जीवन-व्यवहार का सरल, कम-से-कम खर्चवाला और शोषण-हीन तथा स्वावलम्बी जीवन-व्यवहार भी मौजूद था, जिसके कारण वे कड़वे-से-कड़वे शब्दों का प्रयोग ईमानदारी के साथ कर सकते थे। यही उनकी सबसे बड़ी शक्ति थी और यही सबसे बड़ी संपत्ति भी। लेकिन उनके प्रत्येक व्यंग्य के पीछे सदा एक हलकी-सी मुस्कराहट छिपी रहती थी, जो सदा सुननेवाले के मन से उस व्यंग्य के दंश को निकाल फेंकती थी। ●

छह

●

शोषणहीन समाज तथा अर्थव्यवस्था के सन्देशवाहक

कुमारप्पा ने गांधीवादी अर्थशास्त्र के संबंध में लिखा था, "गांधीजी से सम्बद्ध प्रत्येक प्रवृत्ति और विचार आवश्यक रूप से सत्य और अहिंसा से प्रसूत होना चाहिए। इसलिए गांधीवादी अर्थशास्त्र भी असत्य और हिंसा से बिलकुल अलग होगा।" जो बात गांधीजी के विचार और प्रवृत्तियों के बारे में थी, वही कुमारप्पा के बारे में भी लागू है। कुमारप्पा की विशेषता यह थी कि वे न केवल असत्य का निराकरण या सत्य का विवेचन ही करते थे, बल्कि सत्य का विवेचन करने के बाद इस बात पर अड़ जाते थे कि उन्होंने जो कुछ कहा है, उसके अतिरिक्त जो कुछ है, वह न केवल असत्य है, बल्कि अनुचित है और वह नहीं करना चाहिए। यही नहीं, बल्कि करनेवाले की निन्दा और भर्त्सना भी वे कड़े शब्दों में करते थे। इस बात में वे गांधीजी से बहुत भिन्न थे और इसीका परिणाम था कि वे सत्य और अहिंसा के परम तत्त्वनिष्ठ और व्यवहारकर्ता होने पर भी विशेष लोकसंग्रह नहीं कर सके और बहुत लोकप्रिय भी नहीं हो सके। वे स्वयं तलवार की धार पर चल सकते थे और चलते थे, पर जो नहीं चल पाते थे, उनके लिए उनके मन में नाराजगी अधिक रहती थी, सहानुभूति और सहनशीलता कम। आर्थिक समाज-व्यवस्था का जिक्र करते हुए

उन्होंने लिखा है कि "हमें ऐसी समाज-व्यवस्था खोजनी चाहिए, जिसमें कुछ सीमा तक लोगों में लाभ की भावना तो रहेगी, लेकिन वह कमजोरों का निर्दयतापूर्वक शोषण नहीं करेगी। प्रत्येक व्यक्तित्व का विकास आवश्यक है। हरएक व्यक्ति अपनी शक्तियों का उपयोग करने में स्वाधीन होना चाहिए। अगर हम वस्तुओं का उत्पादन विकेन्द्रित तरीकों पर छोटे घटकों द्वारा करें, तो हम पूँजीवाद की बहुत-सी बुराइयों को दूर कर सकेंगे और व्यक्ति के विचार और कार्य की स्वाधीनता को भी कायम रख सकेंगे। साम्यवाद में समाज का गीत गाया जाता है और व्यक्ति नगण्य हो जाता है। समाज के द्वारा मनुष्य को कितनी ही सुविधाएँ दी जायँ, पर यदि उसका व्यक्तित्व समाप्त हो जाय तो फिर केवल सुविधाओं से उसे क्या लाभ होगा ?"

लोकतंत्र की चर्चा करते हुए कुमारप्पा ने कानूनी या औपचारिक तथा अहिंसक या धार्मिक लोकतंत्र का जिक्र किया है। उनका कहना है, "कानूनी लोकतंत्र ऊपर से शासन करता है। कर्तव्य-आधारित लोकतंत्र जनता में से उत्पन्न होता है। औपचारिक और कानून पर आधारित संविधान घृणा, कटुता और संदेह पैदा करता है, जबकि धार्मिक, कर्तव्य-आधारित संविधान लोगों में जिम्मेदारी की भावना पैदा करता है और सबके भले के लिए स्वयं कष्ट उठाने की तैयारी। यही धार्मिक अर्थात् नैतिक उत्तरदायित्व की भावना है। इससे मनुष्य का विकास होता है। तब मनुष्य पशु से आगे बढ़ता है और वह पूरे समाज के हित की भाषा में सोचता है। ऐसे धार्मिक अथवा कर्तव्य-आधारित लोकतंत्र में अर्थ-व्यवस्था मातृक होगी, ऐसी माता के जैसी, जो अच्छे-से-अच्छे खाद्य-पदार्थों को तैयार करने में कितना समय लगेगा, इसकी चिन्ता न करते हुए अपने बच्चों के लिए तैयार करती है। मातृक अर्थ-व्यवस्था उपयोग के लिए उत्पादन करती है, न कि विनिमय और मुनाफे के लिए।" कुमारप्पा ने बार-बार अहिंसक आयोजन पर और अहिंसक स्वदेशी पर बल दिया है। अहिंसक योजना की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है कि वस्तु-

केन्द्रित आयोजन अन्त में हमें रक्तपात की ओर ही ले जायगा। केन्द्रित उत्पादन की आत्मा हिंसा ही है। जब कि उत्पादन-इकाई के लिए कच्चा माल दुनिया भर से लाया जायगा तो यातायात को नियंत्रित करना होगा, समुद्री मार्गों को सुरक्षित रखना होगा, तैयार माल का उपयोग करनेवाली जनता को सुरक्षित करना होगा। इन सबमें विभिन्न प्रकार की हिंसा की आवश्यकता होगी।

कुमारप्पा ने स्वदेशी और अहिंसक स्वदेशी, इन दो में भेद किया है। राजनैतिक स्वदेशी का अर्थ किसी निश्चित राजनैतिक या भौगोलिक सीमा में उत्पादित वस्तुओं से हो सकता है, जिसमें नैतिक मूल्यों की आवश्यकता नहीं भी हो सकती है और जब इसी आधार पर विदेशी माल का बहिष्कार किया जाय तो परस्पर में घृणा भी पैदा हो सकती है। राजनैतिक बहिष्कार युद्ध का कारण बन सकता है। इसके विपरीत सच्चा स्वदेशी का विचार हमेशा पड़ोसियों को एकसूत्र में ही बाँधता है।

सच्चे स्वदेशी की भावना में उपभोक्ता या खरीददार ट्रस्टी के रूप में अपना उत्तरदायित्व पूरा करना चाहता है। व्यापारिक लेन-देन केवल वस्तुओं के लेन-देन और रुपये की अदायगी से ही आरंभ और समाप्त नहीं हो जाता, इसमें व्यक्ति की समाज के प्रति कर्तव्य-भावना का विचार भी शामिल है। जब कोई व्यक्ति कोई चीज खरीदता है तो वह उस माल के साथ जुड़े हुए सारे नैतिक मूल्यों को भी ग्रहण करता है। यदि कोई व्यक्ति चुराया हुआ माल खरीदता है तो वह चोरी के अपराध में भी शामिल हो जाता है। यही संपत्ति का उत्तरदायित्व और ट्रस्टीशिप का विचार है।

केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण दोनों ही व्यर्थ हैं, यदि हममें मनुष्य-मनुष्य को जोड़नेवाले प्रेम का विचार नहीं है। जो व्यक्ति किसी चीज की नैतिक शुद्धता के बारे में आश्वस्त होना चाहता है, वह उन्हीं चीजों को खरीदेगा, जो उसकी जानकारी के क्षेत्र में तैयार होती हैं। अगर हमें दूर देशों में तैयार की हुई चीजें जिन परिस्थितियों में बनायी जाती हैं,

उनके संबंध में जानना संभव न हो, तो हमें अपनी खरीददारी अपने पास-पड़ोसी तक ही सीमित रखनी चाहिए। यही अहिंसक स्वदेशी है। कुमारप्पा गांधीजी के सम्पर्क में आने के बाद न केवल सत्य और अहिंसा पर आधारित समाज और अर्थ-व्यवस्था का चिन्तन और अध्ययन करते रहे, बल्कि उन्होंने ग्रामोद्योग और नयी तालीम के शोध, अध्ययन, प्रशिक्षण और प्रसार के द्वारा समाज में इसे व्यापक करने का भी प्रयत्न किया। कुमारप्पा की विशेषता यह थी कि इस प्रचार और प्रसार के पहले उन्होंने अपने और अपने चारों ओर के जीवन में निष्ठा और दृढ़ता के साथ इन्हें अपने दैनिक जीवन और व्यवहार में लाने का भी पूरा-पूरा प्रयत्न किया।

उनके जीवन का दूसरा पहलू यह था कि सत्य और अहिंसा पर आधारित जीवन और समाज-व्यवस्था के विपरीत जहाँ कहीं भी वे परिस्थिति देखते थे, जहाँ कहीं भी शोषण होता था, उसका वे बहुत कड़ाई और तीव्रता से विरोध करते थे। अंग्रेजीराज के जमाने में राजस्व-व्यवस्था के कारण इस देश की जनता का जो शोषण होता था, उसका अध्ययन उन्हें गांधीजी के निकट लाया। उस अन्याय का विरोध करने के लिए उन्होंने गांधीजी का मार्ग अपनाया और उसके लिए अपने अनेक वर्षों के जेल-जीवन में और बाहर भी भयंकर यातनाएँ और कष्ट सहे। अन्याय और अत्याचार का विरोध सत्य और अहिंसा पर आधारित समाज-व्यवस्था की स्थापना का एक पहलू था; ग्रामोद्योग और नयी तालीम तथा सारे रचनात्मक कार्यक्रम इस समाज की रचना के दूसरे पहलू थे। कुमारप्पा दक्षिण और वाम अंगों की भाँति इन्हें एक ही तस्वीर के दो अनिवार्य और आवश्यक पहलू मानते थे।

संक्षेप में कहा जाय तो गांधीजी ने सत्य और अहिंसा पर आधारित समाज और जीवन-व्यवस्था की प्रेरणा दी और कुमारप्पा ने तीव्र बुद्धि, उदात्त हृदय और कर्मनिष्ठ शरीर के द्वारा उस पैगाम को अपने जीवन में उतारने और अपने चारों ओर के समाज में उसे फैलाने तथा चलाने का बहुत व्यापक और गहरा प्रयास किया।

सात

विश्व-शान्ति की खोज में : व्यक्ति से विश्व-संगठन तक

कुमारप्पा के व्यक्तित्व पर ईसामसीह के जीवन और विचार का बड़ा प्रभाव था। इसलिए वे शान्ति के स्वभावतः समर्थक थे। दूसरा बड़ा प्रभाव उन पर गांधीजी का पड़ा, इसलिए शान्ति की स्थापना शोषण-हीन समाज-व्यवस्था के द्वारा ही हो सकती है, इस बात को उन्होंने भली-भाँति समझ लिया। व्यक्ति और समाज दोनों के विचार और व्यवहार का आधार जब तक सत्य और अहिंसा नहीं होगी, तब तक न मानव का विकास पूरी तरह सम्भव है और न विश्वशान्ति की स्थापना ही। ईसा-मसीह और महात्मा गांधी के दोहरे प्रभाव ने एक तरह से कुमारप्पा के व्यक्तित्व के निर्माण में बहुत बड़ा योग दिया था।

कुमारप्पा की दृष्टि से ईसामसीह के बाद चर्च के संगठन और उसकी सेवाओं में बहुत बड़ा परिवर्तन आ गया था और वे ईसामसीह के वास्तविक दृष्टिकोण से बहुत दूर हट गये थे। इसी प्रकार गांधीजी के देहावसान के पश्चात् देश की कांग्रेसी सरकारें और कांग्रेस-संगठन गांधीजी के विचार और दृष्टिकोण से बहुत दूर चले गये थे। इसलिए कुमारप्पा ईसामसीह और गांधीजी के आदर्शों को स्वीकार करते हुए भी ईसाई-धर्म-संगठनों और कांग्रेस-सरकारों के बहुत कड़े आलोचक बन गये थे।

इन्हीं दोनों प्रभावों के कारण युद्ध के विरुद्ध उनका दृष्टिकोण बहुत कड़ा बन गया था। वे अनेक ईसाई-धर्म-संगठनों की भाँति न्यायपूर्ण युद्धों में भरोसा नहीं करते थे और न शान्ति और गांधीजी की बात करते हुए सेना और सैनिक खर्च में वृद्धि करने, अणु-शोध-केन्द्रों की स्थापना करने, सैनिक-शिक्षा को प्रोत्साहित करने आदि की विरोधी नीतियों में कांग्रेस सरकारों और उनके नेताओं का समर्थन ही करते थे।

कुमारप्पा ने अणु-शक्ति-शोध-मंडल की स्थापना के समय लिखा था, "जहाँ तक हम देख सकते हैं, हमें यह अनुभव करना पड़ेगा कि सार्वजनिक कार्यों की व्यवस्था में किसी एक अनुशासन का परिचय हमें नहीं मिला है, जिससे यह माना जा सके कि हम अन्य लोगों से संपन्न होंगे। अमेरिकन लोग ज्ञान के इस वृक्ष पर अधिकार करके अपनी शक्ति के बाहर भटक गये हैं। इस बात की क्या गारण्टी है कि जिन लोगों ने यह निर्णय किया है, उनमें अधिक आत्मनिर्णय और आत्मानुशासन है? अगर जर्मनी की लूट में हिस्सा बँटाना, जिसका हम इसी पत्र में विरोध कर चुके हैं, यदि सरकार की नीति का प्रतिनिधित्व करता है, जिसके श्री राजगोपालाचारी विख्यात सदस्य हैं, तो हम यह समझने लगे हैं कि हवा का दबाव किधर है.... जब हमारे देश में इतने क्षेत्रों में शोध की आवश्यकता है, तब इस प्रकार के कार्य को इतनी प्राथमिकता देने की क्या आवश्यकता है? क्या हम अपने साधनों का उपयोग अधिक भलीभाँति नहीं कर सकते?"

युद्ध और शान्ति के विषय में कुमारप्पा का यह कथन बहुत महत्त्वपूर्ण है, "हमें यह स्वीकार करना होगा कि सारे आधुनिक युद्ध कच्चे माल और बाजार की आर्थिक दौड़ से पैदा होते हैं। जब जीवन का स्तर जटिल होता है और यह जटिलता कृत्रिम रूप में बनायी हुई आवश्यकताओं की लम्बी श्रृंखला से निर्मित होती है, तो ऐसी आवश्यकताएँ किसी प्राकृतिक अभाव की पूर्ति नहीं करतीं। इस स्थिति में जब तक हर बुराई का इलाज नहीं किया जायगा, तब तक विश्व-शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती। यह इलाज केवल सेना नहीं हो सकती और इस बीमारी को केवल भय से

नहीं रोका जा सकता। बीमारी के असली कारण का तभी इलाज हो सकता है, जब मनुष्य की संग्रह की वृत्तियों को रोका जाय और उसकी स्वार्थपरता को समाप्त किया जाय। इसके लिए जीवन को सादगी के आधार पर संगठन करना होगा और इसके लिए चरित्र तथा व्यक्तित्व के निर्माण की आवश्यकता है। ऐसी स्थिति लाने की आवश्यकता है, जहाँ सभी लोगों को बिना भय और अभाव के अपने-अपने क्षेत्र में धन्धे मिल सकें, वे विचार तथा वाणी की स्वाधीनता का उपयोग कर सकें। आर्थिक क्षेत्र में इसकी उपलब्धि के लिए व्यावहारिक रूप से यह आवश्यकता होगी कि मुनाफे की नीति का दमन किया जाय, केन्द्रित उद्योगों का नियंत्रण किया जाय और साथ ही वास्तविक आवश्यकताओं के आधार पर अपने उपभोग को सीमित किया जाय।" इसी बात को कुमारप्पा ने अपनी विदेश-यात्राओं के दौरान अपने भाषणों में इस प्रकार कहा था, "विश्वभर में व्यापक दबाव से मुक्ति पाने के लिए हमें अपने आर्थिक संगठन को नया रूप देने का प्रयत्न करना होगा :

१. कच्चे माल के उत्पादक को जीवन के समुचित स्तर पर रहने के लिए कीमतें उपयुक्त आधार पर तय की जायँ और कच्चे माल के उत्पादक को अपने उत्पादन की कीमत तय करने में योगदान देना चाहिए। कच्चे माल को पक्के माल के रूप में वहीं परिवर्तित किया जाय, जहाँ कच्चा माल पैदा होता है। उपभोक्ताओं को उत्पादक के प्रति अपने कर्तव्य को समझने की शिक्षा दी जानी चाहिए। इसके लिए वस्तुओं की कीमत भिन्न-भिन्न बातों को शामिल करके तय की जाय। हमें इसकी जानकारी भी रहनी चाहिए।

२. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बची हुई वस्तुओं का होना चाहिए। हमें हरएक मुल्क को विवेकपूर्वक शान्ति के लिए संगठित करना होगा। साम्राज्यवादी सरकारों से किये गये कागजी समझौते कभी स्थायी शान्ति नहीं ला सकेंगे। स्थायी और वास्तविक शान्ति तभी प्राप्त हो सकती है, जब हम शांति के लिए संगठित हों और वह हमारे कृत्यों का परिणाम

हो। आज का युद्ध निश्चित रूप से हमारी आर्थिक कृतियों का परिणाम है और इसीलिए हम अपने दृष्टिकोण को बदलकर जीवन का संगठन कर सकते हैं और ऐसा करना चाहिए।"

इसी व्यवस्था के लिए उन्होंने अपने जीवन का बहुमूल्य भाग रचनात्मक कार्यों में लगाया—ग्रामोद्योगों का संगठन किया, प्रशिक्षण देकर कार्यकर्ता तैयार किये, बुनियादी तालीम के संगठन में भाग लिया और अन्त में विश्व के विभिन्न भागों में यात्राएँ करके विविध शान्ति-सम्मेलनों के सामने अपने विचार रखकर विश्व-शान्ति के नैतिक और आर्थिक आधार को बल देने का प्रयत्न किया। व्यक्ति से लेकर राज्यों तथा राज्य-संगठनों तक ये मुनाफाखोरी और स्वार्थपूर्ति की मनोवृत्तियाँ किस प्रकार घटें और नियंत्रित रहें, यही प्रयत्न, यही चिन्तन और यही कार्य कुमारप्पा के व्यक्तित्व और जीवन का अभिन्न अंग बन गया था। ●

आठ

नयी तालीम के शास्त्री और छात्र

गांधीजी ने ३१ जुलाई १९३७ के 'हरिजन' में लिखा, "राष्ट्र के रूप में हम शिक्षा में इतने पिछड़े हुए हैं कि अगर हम शिक्षण के कार्यक्रम को रुपये पर आधारित रखें तो इस पीढ़ी में राष्ट्र के प्रति अपने दायित्व को पूरा करने की आशा नहीं कर सकते। इसलिए रचनात्मक क्षमता-संबंधी अपनी ख्याति को खतरे में डालकर भी मैंने यह सुझाव देने का साहस किया है कि शिक्षा स्वावलम्बी होनी चाहिए। शिक्षा से मेरा

आशय है कि बालक और मनुष्य में उसके शरीर, बुद्धि और आत्मा में जो सर्वोत्तम है, वह प्रकट हो। साक्षरता, शिक्षा का लक्ष्य तो क्या प्रारंभ भी नहीं है। यह स्त्री व पुरुषों को शिक्षित बनाने के अनेक साधनों में से केवल एक साधन है। वह अपने-आपमें शिक्षण नहीं है। इसलिए मैं बालक की शिक्षा का आरम्भ एक उपयोगी उद्योग सिखाने से करना चाहता हूँ और बालक को प्रशिक्षण आरम्भ होने के क्षण के साथ ही उत्पादन के उपयुक्त करना चाहता हूँ। इस प्रकार प्रत्येक शाला इस शर्त पर स्वावलम्बी बनायी जा सकती है कि शाला का उत्पादन राज्य ले ले।

"मेरा विचार है कि इस प्रकार की शिक्षण-पद्धति में बुद्धि और आत्मा का उच्चतम विकास सम्भव है। शर्त यही है कि प्रत्येक उद्योग को आज की तरह केवल आंशिक रूप में न सिखाया जाय, बल्कि वैज्ञानिक ढंग से सिखाया जाय, अर्थात् बालक को हरएक पद्धति के कारण और परिणाम का ज्ञान होना चाहिए।"

यह शिक्षण में नयी और महान् क्रान्ति की गंगोत्री थी। गांधीजी ने अक्तूबर १९३७ में वर्धा में सामाजिक एवं शैक्षणिक कार्यकर्ताओं का एक सम्मेलन बुलाया, जिसमें इस बुनियादी या नयी तालीम के सामान्य सिद्धान्त मान्य किये गये और डॉ० जाकिरहुसेन की अध्यक्षता में कमेटी बनायी गयी, जो इस शिक्षण की योजना और पाठ्य-क्रम तैयार करे। कुमारप्पा इस समिति के सदस्य बने और इस प्रकार आरंभ से ही बुनियादी तालीम से उनका निकट का संबंध बना और बराबर बना रहा।

लोकतांत्रिक नागरिकता के लिए शिक्षण की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा, "अगर हम चाहते हैं कि प्रत्येक नागरिक राष्ट्र के प्रति अपने उत्तरदायित्व का वहन करे तो हमें उसके शिक्षण के लिए शाला की व्यवस्था करनी होगी। यह तभी संभव है कि जब उसके दैनिक जीवन के कार्यक्रम की इस प्रकार की व्यवस्था की जाय कि वह उसे करते हुए जिस दिशा में हम चाहते हैं, उस दिशा में उसका विकास होता जाय। काम ही व्यक्तित्व के विकास की स्थायी शाला है। अतः हमें इस प्रकार का काम

देना होगा, जिससे नागरिकता का स्वस्थ विकास हो। यह विकेन्द्रित उद्योगों से हो सकता है।"

आयोजन के संबंध में कुमारप्पा की राय है: "मानव-केन्द्रित योजना के लिए प्रारंभिक शिक्षा की ऐसी समुचित पद्धति अनिवार्य है। यहाँ सावधानी से प्रशिक्षित अध्यापकों की आवश्यकता है, जो बालकों के प्राकृतिक झुकावों का अध्ययन करें और अपने प्रभाव में आनेवाले प्रत्येक बालक के जीवन और कार्य को सही दिशा में मोड़ दें। बुनियादी तालीम की वर्धा-योजना इस कार्य की उचित पद्धति है। स्त्रियों और बालकों की शिक्षा से आरम्भ करके रचनात्मक कार्यक्रम, जो चरखा संघ और ग्रामोद्योग संघ के मार्फत आर्थिक जीवन में चलते हैं, उनमें ऐसे आर्थिक आयोजन की व्यवस्था है, जहाँ हिंसा-मानव जीवन का प्रमुख अंग नहीं बनेगी।" कुमारप्पा हिन्दुस्तानी तालीमी संघ के निर्माण के बाद उसके भी सदस्य रहे, क्योंकि शिक्षण-संबंधी कार्य में उनकी रुचि अत्यन्त वास्तविक और सातत्ययुक्त थी। और दूसरी बात यह है कि नयी तालीम में शिक्षित बालक-बालिकाएँ ही ऐसे समाज में अपना योगदान देने के उपयुक्त हो सकते हैं, जो अहिंसा या शान्ति के अर्थशास्त्र के आधार पर निर्मित है और अहिंसक तथा शोषणहीन अथवा शान्तिपूर्ण सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था तो कुमारप्पा के कार्यक्रम के मूल लक्ष्य ही थे।

यह स्वाभाविक ही था कि मगनवाड़ी, जो ग्रामोद्योगों का शोध और और अध्ययन-केन्द्र होने के साथ-साथ प्रशिक्षण, कार्य तथा जीवन-केन्द्र भी थी, नयी तालीम के प्रयोग और शिक्षण का केन्द्र भी बनती। कुमारप्पा की प्रेरणा से प्रौढ़-शिक्षण के एक समग्र तथा शक्तिशाली केन्द्र के रूप में मगनवाड़ी का विकास हुआ। वहाँ ग्रामोद्योगों के विभिन्न विभागों के उत्पादक कार्य को आधार माना गया तथा पोषणशास्त्र, स्वास्थ्य तथा सफाई, भूगोल और इतिहास, गणित और विज्ञान, अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र, भारतीय तथा विश्व-संस्कृति और सर्वोदय के विचार को अर्थशास्त्र

के साथ समन्वित कर दिया गया और वहाँ 'ग्रामोद्योग-नयी तालीम' के विद्यार्थियों को प्रशिक्षण दिया जाने लगा।

कुमारप्पा अपने जीवन और व्यवहार से प्रशिक्षण देते थे। वे बुनियादी तालीम के स्वाभाविक नेताओं में से थे। वे स्वयं अपने आचरण और व्यवहार में कड़े थे और दूसरों से भी इसी कड़ाई की अपेक्षा रखते थे, पर बालकों के साथ वे हमेशा कोमलता तथा विनोद के साथ पेश आते थे और बच्चों के साथ तो बच्चे बनकर घुल-मिल जाते थे। ●

नौ

कुशल सम्पादक और लेखक

बचपन में कुमारप्पा का झुकाव इंजीनियरिंग की तरफ था। उनकी बहन ने लिखा है, "एक बार हम लोग नीबुमंगलम् शहर जा रहे थे। जैसे ही हम लोग रेलगाड़ी से उतरे, सबका ध्यान सामान उतारने और सँभालने में लग गया। कुमारप्पा उस समय मुश्किल से तीन-चार साल के होंगे। वे वहाँ नहीं मिले, तो उनकी खोज शुरू हुई। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वे इंजन के पास मिले। जब कुमारप्पा से पूछा गया कि यहाँ क्या कर रहे थे? उन्होंने जवाब दिया, 'मैं यह देख रहा था कि यह इंजन कैसे चलता है?' हाईस्कूल में इतिहास में बहुत कमजोर थे और गणित में बहुत होशियार थे। तब अध्यापकों के ध्यान दिलाने पर उन्होंने इतिहास का अत्यंत परिश्रमपूर्वक अध्ययन किया। परिणामस्वरूप गणित में अंक कम आये और इंजीनियरिंग सीखने की बात वहीं रह गयी। फिर वे

हिसाब और ऑडिट की ओर बढ़े। अमेरिका जाने पर कुमारप्पा ने व्यावसायिक प्रशासन में बी० एस-सी० की डिग्री ली और अर्थशास्त्र में एम० ए० किया।

इसी बीच अमेरिका में साहस का अर्थशास्त्र (Economics of enterprise) विषय पर सेमिनार में शामिल हुए, जिसके संचालक डॉ० एच० जे० डेवनपोर्ट थे। वे अर्थशास्त्र के उस संप्रदाय के नेता थे, जिनका विश्वास था कि अर्थशास्त्र में व्यक्तिगत मुनाफे के अलावा और किसी बात का ख्याल नहीं किया जाना चाहिए। उनका विचार था कि उत्पादन का लक्ष्य क्रयशक्ति बढ़ाना है। हमें इसमें कोई नैतिक मूल्य या सामाजिक विचार नहीं घुसाने चाहिए। कुमारप्पा को यह आर्थिक दर्शन बिलकुल गलत प्रतीत हुआ। उन्होंने अपनी पूरी बुद्धि और शक्ति से इसका विरोध किया। इससे कुमारप्पा के अर्थशास्त्र-संबंधी विचारों में परिपक्वता आयी और वे नैतिक और सामाजिक दृष्टिकोण से इस पर विचार करने लगे। वहीं उन्होंने 'राजस्व और हमारी दरिद्रता' संबंधी निबन्ध तैयार किया था। उसीके कारण उनका गांधीजी से सम्पर्क हुआ और उसे उन्होंने अपने पत्र 'यंग इण्डिया' में क्रमिक रूप से प्रकाशित करने की इच्छा प्रकट की थी। कुमारप्पा के विचारों की परिपक्वता, अर्थशास्त्र-संबंधी दृष्टिकोण की मौलिकता और शुद्धता तथा अंग्रेजी भाषा में अभिव्यक्ति की सशक्तता और तेजस्विता को गांधीजी ने पहली निगाह में ही परख लिया था। इसलिए गांधीजी ने यह तय किया कि उनकी गिरफ्तारी के बाद महादेवभाई देसाई 'यंग इण्डिया' का संपादन करेंगे, कुमारप्पा महादेवभाई की मदद करेंगे और नियमित रूप से यंग इण्डिया में लिखेंगे। कुमारप्पा बोले, "मैं न तो गांधी-दर्शन के संबंध में कुछ जानता हूँ, न यंग इण्डिया की परम्परा को और उसमें अब तक क्या-क्या छपा है, न उससे परिचित हूँ और न मैं सम्पादक की कुर्सी पर बैठना ही जानता हूँ। मैं तो धूलभरी खाता-बहियों के आडिट को ही अच्छी तरह समझता हूँ। अतः अच्छा हो, यदि आप मुझे इसी प्रकार का काम दें और लिखने-लिखाने के काम से बच

जाने दें।" गांधीजी ने अपने तरीके से बहुत कुशलता और सहानुभूति-पूर्ण ढंग से जवाब दिया, "आपकी लेखन-संबंधी योग्यताओं के निर्णय की जिम्मेदारी तो पत्र के सम्पादक की है। निर्णय मुझे करना है, आपको नहीं। इसलिए मैं आपको इस पत्र के लिए लिखने को आमंत्रित करता हूँ। हमारे यहाँ प्रत्येक लेख के अन्त में लेखक का नाम प्रकाशित करने की परम्परा है। अगर आप कोई रद्दी चीज भी लिखते हैं तो दोष मुझ पर आयेगा और लोग कहेंगे कि महात्मा गांधी का पत्र रद्दी लेख छापता है। पर यदि आप ऐसी चीज लिखते हैं, जिसकी जनता सराहना करे तो लोग सारा यश कुमारप्पा को देंगे, जिन्होंने गांधीजी के पत्र में लेख लिखा है।" कुमारप्पा को निरुत्तर होना पड़ा। गांधीजी का जादू उन पर पूरी तरह चल गया था। और परिस्थिति भी ऐसी बनी कि महादेवभाई पहले ही गिरफ्तार हो गये, इसलिए गांधीजी के गिरफ्तार होते ही यंग इण्डिया के सम्पादन की पूरी जिम्मेदारी उन्हें उठानी पड़ी। इस प्रकार जब कभी गांधीजी और महादेवभाई जेल में हों तो कुमारप्पा को यंग इण्डिया के सम्पादन का भार सँभालना पड़ता था, हालाँकि सरकारी कारनामों की उनकी आलोचना इतनी कड़वी और तेज होती थी कि वे भी जेल के बाहर ज्यादा समय तक नहीं रह पाते थे।

नमक-सत्याग्रह के समय कुमारप्पा ने शिक्षित यूरोपियन सार्जेण्ट के पाशविक व्यवहार की कड़ी निंदा की। गांधीजी के एक साथी को यह अच्छा नहीं लगा और उन्होंने इस मामले की शिकायत गांधीजी से की। गांधीजी ने बहुत विनोदपूर्ण ढंग से इस शिकायत को उड़ाते हुए कहा, "कुमारप्पा मद्रास के रहनेवाले हैं। मद्रास लाल मिर्चों के लिए प्रसिद्ध है। लाल मिर्च कुमारप्पा के खून में घर कर गयी है। तब हम कुमारप्पा के शरीर से तीखेपन को कैसे दूर कर सकते हैं ?" सचमुच मिर्च का यह तीखापन ही कुमारप्पा की विशेषता थी।

कुमारप्पा के सम्पादक रहने के कुछ ही समय के बाद जिस प्रेस से यह छपता था, उसे सरकार ने जब्त कर लिया। कुमारप्पा ने साइक्लोस्टाइल

करके पत्र निकालना शुरू कर दिया। उपर्युक्त साथी को कुमारप्पा की यह बात भी नापसन्द रही। उन्होंने कहा, "इसमें हिंसा की गंध है।" कुमारप्पा ने कहा, "मेरी जिम्मेदारी सत्याग्रह के समाचार प्रकाशित करने की है। अगर प्रेस जब्त हो जाय तो नियमित रूप से समाचार प्रकाशित करने के लिए अन्य साधनों का उपयोग करना होगा।"

यह शिकायत भी गांधीजी के पास गयी। गांधीजी कुमारप्पा के दृष्टि-कोण से सहमत थे। पर उन्होंने उस साथी या कार्यकर्ता को एक सुन्दर उदाहरण देकर उनका समर्थन किया। उन्होंने कहा, "मान लीजिये, आपके पास एक गाय है। वह बाहर घूमने गयी है। पड़ोसी की उस पर बुरी नजर है। वह आपसे पूछता है कि गाय कहाँ है, आप क्या जबाब देंगे ?"

यंग इण्डिया में ही भारत के लॉर्ड बिशप और मेट्रापॉलिटन डी० एस० वेस्टकॉट के नाम कुमारप्पा का प्रसिद्ध पत्र छपा था। यह पत्र डॉ० वेस्टकॉट के उस लेख के विरोध में था, जिसमें उन्होंने गांधीजी के अहिंसक युद्ध का विरोध किया था और अपने दृष्टिकोण के समर्थन में ईसाई धर्म-शास्त्र की पुस्तकों के उदाहरण देकर यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया था कि गांधीजी का आन्दोलन ईसामसीह की शिक्षा के विरुद्ध है। कुमारप्पा ने बहुत योग्यता के साथ बिशप महोदय के बिचार का उत्तर दिया और गांधीजी के विचारों का समर्थन ईसाई धर्म के आधार पर किया। कुमारप्पा का वह पत्र बहुत महत्त्वपूर्ण है। कुमारप्पा के लेख बहुत व्यापक रूप से प्रकाशित हुए और चर्चा के विषय बने। उस जमाने में बहुत से दैनिक और साप्ताहिक पत्रों में उनके लेख नियमित रूप से उद्धृत किये जाते थे।

निश्चय ही सरकार यंग इण्डिया के इस नौजवान सम्पादक और कड़वे आलोचक को बहुत दिनों तक बाहर नहीं रख सकती थी। अतः उन पर यंग इण्डिया के मार्फत कानून से बनी हुई सरकार के खिलाफ विद्रोह और घृणा फैलाने का आरोप लगाया गया। कुमारप्पा ने मजिस्ट्रेट के सामने जो बयान २५ फरवरी सन् १९३१ को दिया, उसमें उन्होंने

सरकार के कानून से निर्मित होने, जनता में घृणा और विद्रोह फैलाने के आरोप और उस अदालत की कुमारप्पा को सजा देने की क्षमता की धज्जियाँ उड़ा दीं।

जब गांधीजी और महादेवभाई दोनों गोलमेज परिषद् के लिए इंग्लैण्ड गये तो फिर उन्हें यंग इण्डिया के सम्पादन का भार सँभालना पड़ा। कुमारप्पा के लिए यंग इण्डिया का सम्पादक होना मानो सरकार के लिए स्थायी चुनौती थी। उनको फिर ढाई वर्ष की कड़ी सजा दी गयी।

बाद में मगनवाड़ी की स्थापना होने पर रचनात्मक कार्य के संबंध में शोध, अध्ययन, प्रशिक्षण और प्रसार की दृष्टि से जनवरी सन् १९३७ से ग्रामोद्योग पत्रिका का प्रकाशन उनके सम्पादकत्व में आरम्भ हुआ। यद्यपि अब कुमारप्पा का, उनके कार्य का और पत्रिका का क्षेत्र बिलकुल अलग था, फिर भी वे सरकार तथा विरोधियों की कड़ी आलोचना किये बिना नहीं रह सकते थे। वे रचनात्मक कार्य के विधायक पहलुओं के जितने माहिर थे और उनमें जितनी रुचि लेते थे, उससे कम रुचि रचनात्मक कार्य के विरोधियों की आलोचनाओं का जबाब देने में नहीं लेते थे। जिस किसी ओर हिंसा या अन्याय होता हो तो उसकी आलोचना करने से वे अपने-आपको नहीं रोक पाते थे। सम्पादक की हैसियत से उसे वे शायद अपना पवित्र कर्तव्य ही मानते थे। सचमुच गांधीजी की भाषा में कहा जाय तो मद्रासी लाल मिर्चों का असर उनके खून में ही था। परिणाम यह हुआ कि सन् १९४२ के दिसम्बर के अंक में ग्रामोद्योग पत्रिका में एक लेख प्रकाशित हुआ, जिसका शीर्षक था 'रोटी के बदले पत्थर'। इस लेख में अंग्रेजों की मुद्रास्फीति की कूटनीति और उसके मार्फत गरीब जनता की खुली लूट का पर्दाफाश किया गया था। जब कुमारप्पा पर मुकदमा चलाया जा रहा था, तब एक बड़ी मजेदार घटना घटी। सरकारी वकील ने बहुत योग्यता के साथ इस मामले की पैरवी की। निर्णय सुनाते समय जज ने सरकारी वकील की इस बात के लिए तारीफ की कि उन्होंने एक कठिन और तकनीकी

मामले को बहुत योग्यतापूर्वक समझा है और अदालत को उसे समझने में मदद की है।

इस पर सरकारी वकील ने बीच में बोलते हुए अदालत को बताया कि "मैं तो स्वयं कैदी की सलाह के अनुसार ही काम कर रहा हूँ', क्योंकि अर्थशास्त्र के कोई भी प्राध्यापक सरकारी वकील को उस मामले को समझने में मदद नहीं दे सके थे।" सारी अदालत यह सुनकर हँस पड़ी। यह इस बात का भी सूचक है कि कुमारप्पा का सत्य और अहिंसा का विचार कितना ऊँचा था और उनका अर्थशास्त्र-संबंधी दृष्टि-कोण कितना नया और मौलिक था। पर सम्पादक की हैसियत से फिर भी कुमारप्पा को ढाई वर्ष की कड़ी सजा दी गयी। जेल से लौटने के बाद फिर कुमारप्पा ने 'ग्रामोद्योग पत्रिका' का भार सँभाल लिया। आजादी के बाद जब उन्होंने गांधीजी के और स्वयं के सपनों को छिन्न-भिन्न होते देखा, केन्द्र तथा प्रान्त की कांग्रेसी सरकारों को लगातार दूर हटते और अवहेलना करते देखा तथा चारों ओर उच्च वर्गों में फैले हुए विलासिता और ह्रास के वातावरण को सघन होते देखा, तो कुमारप्पा के लिए इन सबको सहन करना कठिन हो गया और ग्रामोद्योग पत्रिका के मार्फत फिर उनकी वाणी आग उगलने लगी। स्वाभाविक ही वे सरकारी क्षेत्रों में उत्तरोत्तर अधिकाधिक अलोकप्रिय होते गये। इन वर्षों में कई बार इस प्रकार की बात भी सुनी गयी कि कुमारप्पा को जेल के सीखचों में बन्द कर दिया जाना चाहिए। पर कांग्रेस के कर्णधारों और कांग्रेस-संगठन में जो कुमारप्पा का स्थान बन गया था और रचनात्मक कार्य से भी देश में जो उनकी प्रतिष्ठा बनी थी और सबसे ज्यादा शायद इस कारण से कि श्री जवाहरलाल नेहरू केन्द्रीय सरकार के कर्णधार थे, इसलिए आजाद हिन्दुस्तान में उन पर हाथ नहीं डाला गया। वैसे भी उनकी शारीरिक स्थिति जैसी बन गयी थी, उसके कारण उन्हें सभी सार्वजनिक कार्यों से अवकाश लेकर विश्राम के लिए चला जाना पड़ा।

कुछ भी हो, एक कुशल सम्पादक और सफल लेखक के लिए जो गुण चाहिए—व्यापक सहानुभूति, सबसे महत्त्वपूर्ण विषय को चुनने की शक्ति और अत्यन्त प्रभावपूर्ण वाणी में उसे अभिव्यक्त करने की क्षमता, ये तीनों बातें कुमारप्पा में भरपूर थीं। इसलिए चाहे कुमारप्पा यंग इण्डिया और ग्रामोद्योग पत्रिका जैसे छोटे साइज के साप्ताहिक और मासिक के ही सम्पादक रहे हों, पर उनके सम्पादकीय ज्ञान और कौशल की धाक इस देश में बराबर मानी जायगी और भारतीय सम्पादन-कला के इतिहास में उनका विशिष्ट स्थान रहेगा। ●

दस

कथनी तथा करनी का तादात्म्य : व्यक्ति की समग्रता तथा तेजस्विता

कुमारप्पा डीलडौल से लम्बे, तगड़े और मजबूत थे। वे आरम्भ से मेहनती और तेज दिमाग के व्यक्ति थे। गणित उनका अत्यन्त प्रिय विषय था। पर परिश्रम करके उन्होंने इतिहास, अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र पर भी अधिकार प्राप्त कर लिया था। यंत्रों में भी उन्हें रुचि थी। जिज्ञासा और विवेचन, दोनों उन्हें बहुत प्रिय थे।

कुमारप्पा विशेष प्रकार से भावनाशील भी थे। ईसामसीह और गांधी, दोनों का उनके जीवन पर सबसे अधिक असर रहा। 'भगवान् की पूजा जनता की सेवा में' यह सूत्र उनके जीवन में ईसामसीह से आया।

सेवा का यह पाठ उन्होंने माता से पढ़ा। वे केवल दार्शनिक या धार्मिक चिन्तन की दृष्टि से दान और परोपकार के समर्थक नहीं रहे, बल्कि क्रियात्मक रूप से यह सेवा किस तरह की जाय, इसके जो व्यवहार-पाठ माता ने पढ़ाये, वे उनके जीवन में भारतीय क्षेत्र और गांधी के दर्शन और नेतृत्व से सींचे जाकर बहुत व्यापक और गहरे गये।

भारतीय जनता की गरीबी, उसकी पराधीनता और शोषण के अध्ययन ने उनके ज्ञान तथा भावना से परिपुष्ट व्यक्तित्व को एकदम क्रान्तिकारी बना दिया। पर वे गांधी-प्रभाव के कारण अहिंसक क्रान्तिकारी बने। क्रान्तिकारी के रूप में अन्याय और शोषण के विरुद्ध उनकी आत्मा और वाणी आग उगलती थी। वह किसी भी प्रकार के अन्याय, चाहे वह किसी भी स्रोत से हो, सहन ही नहीं कर सकते थे। अपने विरोध को वे सदा कड़े शब्दों में व्यक्त करते थे। उन्हें सत्य और असत्य के बीच में, यथार्थ और आदर्श के बीच में, बीच की स्थिति मान्य नहीं थी। मध्यम-मार्ग से उन्हें चिढ़ थी। यही कारण था कि वे विशेष लोक-संग्रह नहीं कर सके और लोग उनसे डरते भी थे।

अहिंसक क्रान्तिकारी होने के नाते जहाँ उन्होंने शोषण तथा अन्याय का विरोध किया और जेल की यात्रा तथा कष्ट स्वीकार किया, वहाँ शोषणहीन अहिंसक समाज-व्यवस्था के निर्माण हेतु अध्ययन, शोध, प्रशिक्षण, शिक्षण आदि के रचनात्मक कार्यों का भी आयोजन किया। यही कारण था कि उन्होंने देश के विभिन्न प्रान्तों में आर्थिक सर्वेक्षण और अध्ययन का कार्य हाथ में लिया। उन्होंने अखिल भारत ग्रामोद्योग संघ की स्थापना की, मगनवाड़ी और पन्नयी-आश्रम को जन्म दिया, पाला-पोसा और बढ़ाया। अहिंसक क्रान्ति के इस पहलू में कुमारप्पा का विशिष्ट योगदान रहा और उनका व्यक्तित्व बहुत चमका।

इस देश के इतिहास में २०वीं शताब्दी का पूर्वार्ध गांधीजी के नाम से अथवा भारतीय पुरुषार्थ के स्वर्णयुग के नाम से प्रसिद्ध रहेगा। इस युग में, इस देश में, गांधी, रवीन्द्रनाथ और अरविन्द जैसे युग-पुरुष जनमे,

जिनका स्थान विश्व के इतिहास में उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण माना जायगा। इसी युग में गांधीजी के नेतृत्व में भारतीय स्वाधीनता का जो विराट् प्रयास चला और जिसे गौरवपूर्ण सफलता १९४७ में प्राप्त हुई; उसके साथ ही सुन्दर समाज के निर्माण के कार्यक्रम के रूप में जो संगठित और सामूहिक प्रयास देशभर में स्थान-स्थान पर चले, वे भी भारतीय क्रान्ति की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दिशा का संकेत करते हैं। तीसरी बात यह कि भारत की स्वाधीनता और समृद्धि का जो आदर्श इस युग के भारतीय मनीषियों ने देश के सामने रखा, वह संकुचित अर्थ में भारत के राष्ट्रीय उत्थान का ही नहीं था; वह दुनियाभर के शोषित और पराधीन देशों के लिए भी था और न वह केवल पराधीन देशों के स्वराज्य के ही लिए, बल्कि वह समग्र मानव-जाति की स्वाधीनता, समानता और बन्धुत्व के लिए आदर्श था। भारतीय स्वाधीनता या हिन्द स्वराज्य इसका आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण, पर एक अंगमात्र था। इस विराट् प्रयास में उपर्युक्त महान् नेताओं के बाद जिन विशिष्ट पुरुषों ने उनकी सहायता की, उसके दर्शन, चिन्तन और कार्य को समृद्ध किया, अपना समग्र चिन्तन और समग्र शक्ति इस महान् यज्ञ में समर्पित कर दिया, उन्हीं महान् आत्माओं में कुमारप्पा का स्थान है और बहुत विशिष्ट तथा ऊँचा स्थान है। वे न केवल भारतीय आजादी के प्रमुख सेनानी थे, न केवल रचनात्मक कार्यक्रमों, खासकर ग्रामोद्योगों, के उन्नायकों और प्रस्थापकों में थे, बल्कि इन दोनों से बढ़कर वे सत्य, अहिंसा पर आधारित अहिंसक या सर्वोदय समाज-रचना के बड़े-से-बड़े संदेशवाहकों में थे और उस नाते जब तक सर्वोदय-समाज की स्थापना इस दुनिया में नहीं हो जाती या जब तक इस प्रकार की समाज-रचना का प्रयास इस देश में और दुनिया में चलता रहेगा, कुमारप्पा का व्यक्तित्व, खासकर अर्थ-रचना की दृष्टि से, बराबर आदर के साथ मान्य किया जायगा और वह सदा अध्ययन, मनन और चिन्तन तथा अनुसरण का विषय बना रहेगा। ●

तीसरा भाग

विचार

एक

•

सामान्य अर्थशास्त्र

गांधी-अर्थनीति की बुनियाद

अगर कोई यह पूछे कि गांधी का जो अर्थशास्त्र है, उसके क्या उसूल हैं, तो हम यही कहेंगे कि ऐसी कोई चीज ही नहीं है। गांधीजी के लिए तो अर्थशास्त्र जीवन के एक तौर-तरीके का हिस्सा है। अर्थशास्त्र पर लिखी जानेवाली किताबों में जो आम कायदे-कानून बताये जाते हैं, वे किन्हीं उसूलों के मातहत होते हैं। लेकिन गांधी अर्थ-विचार में ऐसा भी नहीं होता। सिर्फ दो जीवन के उसूल हैं, जिनके मातहत गांधीजी के आर्थिक, सामाजिक, राजकीय और दूसरे सभी ख्यालात हैं। वे हैं सत्य और अहिंसा। इन दो कसौटियों पर जो चीज खरी नहीं उतरती, उसे गांधीवादी नहीं कहा जा सकता। अगर चीजों की कोई सूरत ऐसी बन जाती है कि उससे हिंसा पैदा हो या उसमें झूठ की जरूरत पड़ जाय, तो हम उसे गैर-गांधीवादी कह सकते हैं।

इन दो उसूलों को हम लें और जीवन के हर पहलू में इन्हें लागू कर यह देखें कि कहाँ सत्य है, कहाँ अहिंसा पैदा की जा सकती है। अगर ये मकसद हासिल न हों, तो उन रास्तों को छोड़ देना चाहिए।

अगर हम इन्सानी खानदान को लें, तो अपने नजरियों के मुताबिक हम पाँच अलग-अलग जातियों में बाँट सकते हैं। यह चीज हमें जानवरों की मामूली जिन्दगी में भी मिलती है। मिसाल के तौर पर चीते को लीजिये,

जो सबसे ज्यादा हिंसक और बेरहम है। यह अपनी माली जिन्दगी के लिए क्या करता है? अपना खाना कैसे पाता है? जानवरों को या जो मिल जाय, उसे मारकर खाता रहता है। चीता कुछ पैदा नहीं करता, पैदावार के काम में रत्तीभर मदद नहीं पहुँचाता, लेकिन बगैर पैदा किये सिर्फ खा डालता है। यह नमूना है बिना पैदावार किये खर्च करने का। और चीता रहता कहाँ है? पहाड़ियों में, गुफाओं में, खन्दकों में। इसलिए जहाँ तक चीते के खाने का वास्ता है, वह आदमखोर है और इसके रहन-सहन का ढंग लुटेरा है।

बन्दर को लीजिये। यह अपनी खुराक कैसे पाता है? इधर-उधर यह फल तोड़ा, यह पत्ती ली, वह ली, यह लिया, वह लिया, यानी लूट मचाता है। बन्दर अपनी खुराक देनेवाले साधन को खतम नहीं कर डालता है, लेकिन जो मयस्सर होता है, उसे ले लेता है। चीते और बन्दर की मिसालों से दो रास्ते साफ समझ में आ जाते हैं। दोनों ही बिना कुछ पैदा किये खर्च करते हैं और जो सामने पड़ गया, उस पर गुजर करते हैं। जरा दूर तक देखें, तो पता चलेगा कि दोनों की एक-सी हालत है, लेकिन जब यह सवाल आता है कि हिंसा कितनी हो रही है, तो दोनों में फर्क मालूम पड़ता है। चीता बन्दर के मुकाबले कहीं ज्यादा हिंसक है। बन्दर अपनी खुराक के साधन को तबाह नहीं कर डालता। एक आदमखोर है, दूसरा लुटेरा। दोनों खुदखोर हैं। अपना फर्ज निभाने का उनमें कोई माद्दा ही नहीं है। वे केवल अपनी भूख, लालच और खुदखोरी के तौर पर—जिनकी बुनियाद हक या अधिकार पर है—सोच सकते हैं।

अब हम तीसरी हालत पर आते हैं, जिसमें फर्ज और हक का सन्तुलन है। इसको हम कारोबारी सूरत कह सकते हैं। घरों के अन्दर छोटी-छोटी चिड़ियों के घोंसलों को देखिये। अपनी चोंच से वह तिनके, फूस, रूई वगैरह जमा करके घोंसला बनाकर रहती है। वह घोंसला ऐसी जगह बनाती है, जहाँ बिल्ली न पहुँच सके। मेहनत और दूरंदेशी से तैयार की हुई पनाहगाह में उन्हें मजा आता है। यह हुआ पैदा करके खर्च करना।

चिड़िया निजी मालिकी का हक बरतती है। क्योंकि अगर दूसरी चिड़िया आये, तो वह चोंच मारकर उसे भगा देगी। इसमें हक और फर्ज मिले हुए हैं।

चौथी सूरत गिरोहबन्दी की है, जिसमें शहद की मक्खी आती है। वह शहद किस तरह जमा करती है ? उसे वह लाकर छत्ते में भर देगी। वह यह नहीं करती कि छत्ते में कोई खास छेद मेरा है। सारे गिरोह के फायदे के लिए वह जमा करती है। जब एक मक्खी शहद लाती है, तो छत्ते में लाकर उसे रख देती है और सब मक्खियों के इस्तेमाल के लिए उसे छोड़ देती है। वह अपने निजी खर्च के लिए नहीं, बल्कि सबके खर्च के लिए पैदा करती है। सारी मक्खियाँ एक खानदान की तरह रहती हैं। इसमें हक के जज़्बे के बजाय फर्ज का जज़्बा ज्यादा तगड़ा है। पैदावार खर्च से ज्यादा है और बचत सबके काम आती है। इसके बाद पाँचवीं सूरत है, हमने ऊपर घोंसले बनानेवाली चिड़िया की चर्चा की है। मान लीजिये, उसको एक बच्चा हुआ। सुबह को वह निकल पड़ी। अनाज के दाने वगैरह जो मिले, जमा कर लाती है और बच्चे को खिलाती है। वह यह नहीं कहती कि चीज मेरी लायी हुई है, इसलिए उसे निगल जाने का मुझे ही हक है। वह उसे बच्चे के पास ले जाकर उसे खुद खिलाती है। क्या वह यह सोचती है कि बड़ी होने पर यह मुनिया मुझ बूढ़ी माँ को खिलायेगी ? नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है। वह जो देती है उसे वापस पाने का कोई ख्याल उसे नहीं होता। वह यह सब अपने फर्ज के आधार पर करती है। इसको हम माँ की अर्थनीति या सेवा-अर्थनीति कह सकते हैं।

आर्थिक सरगरमियों के विचार को हम इन पाँच तरह की सूरतों से जाहिर कर सकते हैं—आदमखोर, लुटेरा, कारोबारी, गिरोहबन्द और सेवा। इन सबके उसूल अलग-अलग हैं। आदमखोर में खुदखोरी और और हक का बोलबाला है और बिना पैदा किये खर्च किया जाता है। दूसरी सूरत में भी यही बात है, पर हिंसा कम है। तीसरी में पैदावार और खर्च दोनों हैं, चौथी–गिरोहबन्दी–में खर्च कम, पैदावार ज्यादा और पाँचवीं में सेवा ही सेवा, जिसमें इनाम का कोई ख्याल ही नहीं है।

इन्सानी समाज में भी पैदावार और खर्च के यही तरीके हमें मिलते हैं। चोर और डाकू समाज के आदमखोर हैं, क्योंकि वे आदमियों को मार डालते हैं और दौलत पैदा करने के लिए कुछ काम किये बिना जो चाहते हैं पा जाते हैं। सड़क पर कोई बच्चा हो तो वे जेवर उतारकर चम्पत हो जाते हैं। ये समाज के आदमखोर हैं।

लुटेरा : फर्ज कीजिये, आप रेल का टिकट खरीदने गये हैं। आप कतार लगाकर खड़े हैं। पीछे से कोई आया और, आप तो सामने खिड़की की तरफ देख रहे हैं, उसने चुपके से आपकी जेब में से बटुआ निकाला और नौ दो ग्यारह हो गया। यह लुटेरों का काम है। लुटेरा इसी फिराक में रहता है कि उसकी हवा भी किसीको न लगे। लुटेरेपन की अच्छी मिसाल पाकेटमार है।

कारोबारी : इसकी अच्छी मिसाल किसानों की है। वे जमीन जोतते हैं, बीज बोते हैं, सख्त मेहनत करते हैं और अपनी मेहनत का खाते हैं। इन्सान जब हैवानियत के दायरे से निकला तो उसने खेती पहले पकड़ी। इस हालत में वह अपने हक और फर्ज दोनों को समझता है और दोनों का तालमेल रखता है। इसीको हम सभ्यता का सबेरा कह सकते हैं। पहले-वाली दोनों जंगली सूरतें हैं। कारोबारी सूरत होने पर सभ्यता शुरू होती है।

गिरोहबन्द-अर्थनीति : इसकी मिसाल है—मिला-जुला हिन्दू-परिवार। एक भाई काम तो करता है, लेकिन वह यह नहीं सोचता कि चूँकि मैंने खुद काम किया है, इसलिए कमाई या दौलत मेरी है। उसमें एकता का भाव रहता है। और एक गिरोह के लिए काम करने का जज़्बा रहता है।

सेवा-अर्थनीति : इसकी सबसे अच्छी मिसाल माँ है। माँ बच्चे के लिए काम करती है, लेकिन वह किसी इनाम की तमन्ना नहीं करती, सेवा ही उसका इनाम है।

इसी तरह से यह भेद हमें अपने जीवन में, सरकार में, राष्ट्रों वगैरह में मिलते हैं।

जीवन के आधार तरह-तरह के होते हैं। वह जीवन, जिसका आधार दूसरे लोगों की जान ले लेना या उनके हकों को मारना हो, जैसा साम्राज्यशाही में होता है, जंगली अर्थनीति है। इस नीति से दूसरे मुल्क दबा लिये जाते हैं और ताकतवर मुल्क या दल कमजोरों के ऊपर बैठकर उन्हें चूसा करते हैं। यह आदमखोर अर्थनीति है।

१. राजकाजी तौर पर हिन्दुस्तान अंग्रेजों का गुलाम था। यह आदमखोर अर्थनीति की मिसाल है।

२. दूसरों पर आर्थिक दबाव डालना, अमेरिका का जगह-जगह दखल देना, लुटेरी अर्थनीति की मिसाल है।

३. कारोबारी अर्थनीति : पुराने जमाने में हमारे देश में जो खेती-अर्थनीति पर अमल किया गया है, वह कारोबारी अर्थनीति की मिसाल है।

४. गिरोहबन्द अर्थनीति : इस अर्थनीति में बहुत हद तक सोवियत रूस और नाजी जर्मनी आ जाते हैं।

५. इतिहास में हमको सेवा-अर्थनीति की मिसाल नहीं मिलती। मगर गांधीजी की कोशिश उसी लक्ष्य की ओर बढ़ने की थी।

ये पाँचों सूरतें हमारे अपने रोजाना के काम में भी मिलती हैं। दूसरों पर हँसना आसान है, लेकिन जब हम अपने गरेबान में मुँह डालकर देखें, तो पता चलेगा कि हम खुद कभी तो चीते की तरह व्यवहार करते हैं, कभी बन्दर की तरह, कभी ऐसे, कभी वैसे। जब हम फूहड़पन से खाते हैं और तरह-तरह की चीजें फेंकते जाते हैं, तब हम चीते की जाति में आते हैं। हर रोज रात को हमें चाहिए कि अपने से पूछें कि दिन में कितनी बार हमने चीते की तरह बर्ताव किया, कितनी बार कैसे; और अगर जवाब में यह मालूम हो कि हमारा झुकाव लगातार माँवाली सेवा-अर्थनीति की तरफ बढ़ रहा है, तो यह समझना चाहिए कि हम सभ्यता की तरफ जा रहे हैं, वरना यह समझना चाहिए कि हम जंगलीपन की तरफ ही बढ़ रहे हैं।

हमने जो खुलासा किया है, वह कोई नयी चीज नहीं है, क्योंकि समाज के हिन्दू ढाँचे में यह चीज मिलती ही है। इसमें म्लेच्छ, शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय, और ब्राह्मण हुआ करते हैं। अगर आपकी तबीयत अपने भाईबन्दों की मदद करने की होती है, फिर चाहे आप जन्म से म्लेच्छ ही क्यों न हों, आप ब्राह्मण-गिरोह के समझे जायेंगे। अगर आप जन्म से ब्राह्मण हैं और सरकारी नौकरी कर रहे हैं, तो जो मोटी तलब आपको मिल रही है, उसकी वजह से आप असल में म्लेच्छ बन जाते हैं। म्लेच्छ चीतेवाली हालत पर हैं, शूद्र लुटेरेवाली पर, जो वैश्य ईमान से काम करते हैं वह कारोबारीवाली पर, लेकिन जो वैश्य गलत नाप-तौल करते हैं, वे चीतेवाली हालत के हैं। मिलवाले भी चीते जैसे हैं। अगर हम अपने समाज को इन पाँचों मोटे-मोटे भेदों में बाँट लें, जिनका आधार काम से है, न कि जन्म से, तो यह बहुत मुमकिन है कि एक म्लेच्छ आदमी समाज की सेवा करते-करते ब्राह्मण बन जाय। गांधीजी की योजना यही थी कि इन्सान को कदम-कदम पर म्लेच्छवाली हालत से हटाकर ब्राह्मणवाली हालत पर ले जायँ। एक आदमी की नैतिक और जिस्मानी तरक्की जितनी ज्यादा होगी, उसी लिहाज से वह इस तरफ बढ़ेगा, यही तालीम का मकसद है। जब हम ऐसी हालत पर पहुँच जायँ कि हक रह ही न जाय और उनकी जगह फर्जभर हो, तब हम ब्राह्मण पर या सेवा-अर्थनीति पर पहुँचते हैं।*

उत्पादन : लगभग पिछले २०० वर्षों तक, यानी औद्योगिक क्रान्ति जिसे हम कहते हैं, उसके आने के पहले सारी दुनिया छोटे-छोटे औजारों की मदद से चीजें तैयार करने में लगी हुई थी। कारीगरों को आसपास जो कच्चा माल मिलता था, उसीमें वे अधिक-से-अधिक कारीगरी और श्रम का उपयोग करते थे। आमतौर पर वे स्थानिक विनियोग के लिए ही माल तैयार करते थे। इस प्रकार के आर्थिक व्यवसाय में हिंसा का कोई स्थान ही नहीं था। उत्पादन की इकाइयाँ आमतौर से छोटी होती

* देखिये, गांधी अर्थ-विचार, पृष्ठ ७–१४।

थीं। एक व्यक्ति या कुछ थोड़े से व्यक्ति मिलकर उसे चलाते थे। केन्द्रित उद्योग यानी औद्योगिक क्रान्ति के कारण इस प्रकार के छोटे-छोटे उद्योगों के संगठन में बहुत-से परिवर्तन आ गये। बड़े पैमाने पर प्रामाणिक चीजें तैयार करने के लिए बड़ी-बड़ी ईजादों का उद्योगधन्धों में उपयोग हो सके, इसलिए बहुत बड़ी पूँजी इन कामों में लगायी गयी। इससे यदि पूर्णतया नहीं तो मुख्यतया भौतिक हानि-लाभ के आधार पर अर्थशास्त्र का एक नया रूप सामने आ गया। कीमती मशीनें एक जगह पर लगायी गयीं और उनका पेट भरने के लिए दूर-दूर देशों से कच्चा माल लाया गया। पक्के माल को बेचने के लिए बाजारों की खोज में फिर दुनिया के चारों कोनों में जहाज उसे ले जाते हैं। कच्चा माल प्राप्त करने और बाजार ढूँढ़ने की दो नवीन क्रियाओं के कारण समुद्री रास्तों की चौकीदारी करने के लिए थलसेना और जलसेना रखने की आवश्यकता पड़ी।

बाद में यह पाया गया कि इन मशीनों से किफायत से काम लेने के लिए पूरे साल लगातार इन्हें चलाना चाहिए। इसका अर्थ हुआ कि मशीन के मालिकों को मिलों के लिए बराबर कच्चा माल मिलता रहेगा इसके लिए कच्चा माल पैदा करनेवालों के जीवन और कार्य पर नियंत्रण रखना अनिवार्य है।

इसी प्रकार उत्पादन की इस पद्धति से बहुत बड़े पैमाने पर जो माल तैयार होगा, उसकी खपत पक्की करने के लिए संभावित बाजारों पर भी नियंत्रण रखना सुविधाजनक था। इन दो बातों के कारण राजनीति मिश्रित आर्थिक (Politico-economic) साम्राज्यवाद की आधुनिक कल्पना का जन्म हुआ। उद्योगहीन देशों को पिछड़े हुए देशों की गलत संज्ञा देकर हिंसा के द्वारा उन्हें जीतकर और राजनैतिक दृष्टि से दास बनाकर ये साम्राज्य खड़े हुए हैं। हिंसा चूँकि उत्पादन की इस पद्धति की बुनियाद है, इसलिए उसकी आवश्यकता की पूर्ति के लिए वैज्ञानिक और आविष्कारक इंजीनियरों का काम ही महायुद्ध कहे जानेवाले जन-संहार के लिए अस्त्र-शस्त्र बनाना हो गया है। प्रतियोगिता पर निर्धारित पद्धति

में जैसा होता है, इसके कारण अस्त्र-शस्त्र के उत्पादन की होड़ लग गयी है।

अहिंसक स्वदेशी : केन्द्रित उद्योगों के दाखिल करने से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में जो परिवर्तन हो गये हैं, उनकी जाँच-पड़ताल का जो संक्षिप्त ब्योरा ऊपर दिया गया है, उससे पता चलता है कि मनुष्य जब अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इन उद्योगों पर निर्भर रहता है, तो उसके आर्थिक जीवन की बागडोर हिंसा और असत्य के हाथों में आ जाती है। यदि हम ऐसी झूठ तथा हिंसा में शरीक होना नहीं चाहते, तो हमें ऐसे उद्योगों से अपना सम्बन्ध तोड़ लेना चाहिए। न तो उन्हें कच्चा माल दें और न उनका पक्का माल लें। इस प्रकार उनके कार्यों में असहयोग करके, जैसा प्रायः इल्जाम लगाया जाता है, हम दुनिया को पीछे नहीं घसीट रहे हैं। हम अर्थशास्त्र में नैतिकता और आध्यात्मिकता जोड़ने का प्रयत्न कर रहे हैं।

बड़े पैमाने पर उत्पादन करने के साथ ही सामान को खपाने की समस्या भी बहुत खतरनाक हो जाती है। लम्बे-लम्बे फासले और विचित्र रीति-रिवाज काफी अड़चनें डालते हैं। उन्हें दूर करना ही था। सबसे आसान तरीका जो इस्तेमाल किया गया, वह था अपने जहाज रखना और जहाजरानी पर नियंत्रण रखना, ताकि उनके किराये की व्यवस्था ठीक तरह से हो सके और नुकसान न उठाना पड़े। अपने यहाँ के जहाज जब बाहर जायँ तो पक्का माल ले जायँ और खाली वापस न होकर कच्चा माल लेकर आयें।

ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त : इस प्रकार नये देशों को कारखानेदार देशों के तरीके पर रहन-सहन के लिए सुसंस्कृत किया जा सकता है। कोई भी राष्ट्र एक दिन में अपने रीति-रिवाज और रहन-सहन को नहीं बदल सकता। इसलिए शान्तिपूर्वक प्रवेश करने की बातों, योजनाओं, पिछड़ी हुई जातियों के संरक्षण तथा अविकसित क्षेत्रों के ट्रस्टीशिप आदि की जरूरत पड़ती है। ये कार्यक्रम दुर्बल राष्ट्रों की मर्जी के खिलाफ दृढ़ सैन्यबल के आधार पर अमल में लाये गये थे।

सिक्के का स्थान : यदि बाजार दूर-दूर हों तो सिक्के की समस्याएँ भी उठती हैं। सिक्के का चलन इस कदर बढ़ गया है कि तैयार माल के यथार्थ मूल्य को खत्म करके वह स्वयं ही यानी सिक्का ही ध्येय बन गया है। उपभोग के लिए उत्पादन न करके केवल विनिमय के लिए उत्पादन होने लगा है।

एक किसान, जिसकी गाय दूध देती है, चूँकि दूध के बदले में उसे पैसा मिलता है, बछड़े या अपने बच्चे के लिए दूध न रोककर उसकी एक-एक बूँद बेच देता है। वास्तव में बेचने-न बेचने के उसके निर्णय का सच्चा आधार तो दूध से प्राप्त होनेवाली पोषकता होनी चाहिए। अपने बच्चों को स्वास्थ्यप्रद आहार से वंचित रखकर वह अपने खुद के बच्चों के भावी स्वास्थ्य को बेचता है। पैसे पर जो इतना जोर दिया गया है, उससे उसकी दृष्टि धुँधली हो गयी है।

खपत : आवश्यकता का ध्यान न रखते हुए बड़े पैमाने पर उत्पादन होता है। इसलिए समय-समय पर अतिरिक्त चीजों के ढेर लग जाते हैं। झूठे विज्ञापनों के द्वारा बचे हुए माल की माँग पैदा की जाती है। लोगों में बहुत-सी ऐसी चीजों की जरूरत पैदा कर दी जाती है, जिनके बिना उनका काम चल सकता है।

स्वयंपूर्णता : कम-से-कम अन्न, वस्त्र और मकान की जो बुनियादी जरूरतें है, वे तो स्थानिक चीजों से पूरी की जायँ। असली जरूरत को भी खत्म कर देनेवाली किसी माँग को बहुत अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए। जब स्थानीय जरूरतें स्थानीय चीजों से ही पूरी हो जाती हैं, तो इस प्रकार की आवश्यक माँगें बहुत ही कम हो जाती हैं।

सम्पत्ति का बँटवारा : हिन्दुस्तान में चोटी के कुछ लोगों के पास कुबेर का खजाना है और बाकी सारा राष्ट्र दरिद्रता की चक्की में पिस रहा है, यह बात सबको अच्छी तरह मालूम है। यदि हमारे उद्योग-धन्धों की व्यवस्था पूँजी के ही आधार पर होती रही तो इससे नौकरी देने का अधिकार कुछ गिने-चुने लोगों के हाथ में चला जायगा। एक ऐसे देश

में, जहाँ श्रमिकों की बहुतायत है, एक ऐसे संगठन या संघ की जरूरत है, जो धन के इस साधन का सर्वोत्तम उपयोग करे। गृह-उद्योग या ग्राम-उद्योग धन का बँटवारा करते हैं, जब कि केन्द्रित उद्योग धन को एक जगह संचित करते हैं। इसलिए हमें पहली चीज को ही लेना चाहिए, दूसरी को नहीं। पक्के माल की कीमतें और लागत का हिसाब लगाने में कारखानेदार की रुचि मुख्य रूप से पैसा कमाने की होती है। बहुधा उसकी चीजों की कीमत दूसरे कारखानेदारों की प्रतियोगिता के आधार पर ही रखी जाती है। ऐसी स्थिति में यदि वह अपना मुनाफा बढ़ाना चाहता है, तो चीजों की कीमत बढ़ाकर वह ऐसा नहीं कर सकता। उसके सामने एक ही रास्ता है कि लागत कम करो। लागत में श्रमिकों की मजदूरी, कच्चा माल और व्यवस्था-खर्च शामिल रहते हैं। व्यवस्था-खर्च और कच्चे माल की कीमतें भी बाजार की स्थिति के अधीन होने के कारण वह इनमें कमी नहीं कर सकता। मजदूरी ऐसे लोगों के साथ ठीका करके तय होती है, जिनको न सौदा करने का ही धैर्य होता है और न बुद्धि ही, इसलिए उसमें आसानी से कटौती हो सकती है। नतीजा यह होता है कि लागत घटाकर मुनाफे में जितनी भी वृद्धि की जाती है, उसका सारा भार श्रमिकों को सहना पड़ता है। इसलिए बड़े पैमाने पर पैदा की हुई प्रामाणिक चीजों की दरें भी निश्चित हों।

इसके प्रतिकूल विकेन्द्रित उद्योग में पक्के माल की लागत का मतलब है सिर्फ कच्चे माल की कीमत। पक्के माल की कीमत और उसकी इस लागत में जो अन्तर रहता है, वही मजदूरों का मुनाफा है। इसलिए इस तरह की चीजों की दरें नियत कर देने से आमतौर पर मजदूर को जो कुछ मिलता था, उसमें कमी आयेगी।

हमारे देश में जहाँ मजदूरी की दरें पहले से ही कम हैं, बड़े पैमाने पर चलनेवाले उद्योगों में इस प्रकार दरें नियत कर देने से कारखानेवालों की आमदनी कुछ कम हो जायगी, जो उचित भी है, किन्तु विकेन्द्रित उद्योगों के द्वारा बनायी हुई उन्हीं चीजों की कीमतें उसी घटे हुए पैमाने पर

मुकर्रर करने का फल यह होगा कि मजदूरों की आमदनी जो पहले से ही कम थी और भी कम हो जायगी। दूसरे शब्दों में केन्द्रित उद्योगों में दरें निश्चित करने से पूँजी का संचय कम हो सकता है, जो अच्छा है और देहातों में बनी हुई उन्हीं चीजों की दरें निश्चित करने से पूँजी के बँटवारे में बाधा पड़ेगी, जो बुरा है। इसलिए देहात की बनी हुई चीजों के सम्बन्ध में हमारा उद्देश्य उनकी दरें बढ़ाना होना चाहिए।

आयात-निर्यात : जहाँ बड़े पैमाने पर उत्पादन दैनिक कार्यक्रम हो, आयात-निर्यात एक महत्त्वपूर्ण सवाल बन जाता है। आयात-निर्यात के अच्छे साधनों के विभिन्न प्रकार के परिणाम होते हैं। अगर हम रेलगाड़ी, मोटर और लॉरी इत्यादि आयात-निर्यात के तेज चलनेवाले साधनों का उपयोग करें और उनके उपयोग पर कोई नियंत्रण न रखें तो वे देश के सारे उत्पादन को ही ढोकर बाहर कर दें। माल ढोने के इन तरीकों पर यदि हम यह बन्धन लगा दें कि फल और मछली वगैरह जो शीघ्र खराब होनेवाले पदार्थ हैं तथा उन चीजों को छोड़कर जो स्थानीय आवश्यकता से अधिक सिद्ध हो चुकी हैं, दूसरी चीजें उनके द्वारा न ढोयी जायँ, तो उनका उपयोग उपयुक्त क्षेत्र में हो रहा है, ऐसा कहा जायगा। किन्तु आज माल के आयात-निर्यात ने ऐसी स्थिति पैदा कर दी है कि जिस क्षेत्र में जो फल पैदा होते हैं, वहाँ के लोगों को वे फल खाने को नहीं मिलते।

बस, लॉरी वगैरह के कारण पेट्रोल, तेल तथा इस प्रकार की बाहर से आनेवाली चीजों का व्यवसाय करनेवाले लोगों को खूब मौका मिलता है। इसलिए हिन्दुस्तान जैसे देश में, जहाँ माल ढोनेवाली ये गाड़ियाँ भी विदेशों से मँगानी पड़ती हैं, चालू खर्च का एक बहुत बड़ा हिस्सा देश के बाहर चला जाता है। इस तरह से यातायात के इन साधनों में जो किराया, भाड़ा दिया जाता है, उसका बड़ा हिस्सा विदेशियों के रोजगार में ही काम आता है, जब कि दूसरी तरफ घोड़ागाड़ी या बैलगाड़ी, जो कि स्थानीय धन्धों में काफी उपयोगी होती है, इस प्रकार की मन्दगति से चलनेवाली गाड़ियों को अवकाश नहीं देती। लकड़ी, जिसको अच्छी तरह से सूखने में काफी समय

लगता है, उसके ढोने में तेज चलनेवाली गाड़ियों के उपयोग से इस तेजी के कारण कोई लाभ नहीं होता।

एक कृषि-प्रधान देश में जानवरों के द्वारा माल की ढुलाई प्रकृति के चक्र के प्रत्येक बिन्दु की आवश्यकताओं को पूरा करती है और उसकी आर्थिक योजना में ठीक बैठ जाती है।

मूल्य के चलन : पैसे के चलन के अत्यधिक उपयोग से हिंसा बढ़ती है, व्यापार में असत्य दाखिल होता है और हमारी उत्पादक-शक्ति का अनुपयुक्त इस्तेमाल होता है। जब कि देश में भुखमरी फैली हुई है, उसकी शक्ति और साधन तम्बाकू की खेती में लगाये जा रहे हैं। एक गरीब देश में, जो भुखमरी के बिलकुल कगार पर खड़ा है, हमें विनिमय की दृष्टि से नहीं, बल्कि मनुष्य की आवश्यकता और पोषकता की दृष्टि से मूल्यांकन करना चाहिए।

कीमत की यांत्रिकता : मिसाल के लिए अंडे को लें। बाजार में उसकी कुछ भी कीमत लगे, किन्तु पोषकता की दृष्टि से एक दरिद्र और एक राजकुमार दोनों के लिए वह अंडा ही रहेगा। इसलिए केवल पैसे के कारण एक भूखे दरिद्र व्यक्ति को छोड़कर एक राजकुमार को अंडे देना सबसे बुरा सामाजिक दोष है। आधुनिक व्यवसाय का एक बहुत बड़ा अंग शुद्ध और साफ पैसे के यांत्रिक आधार पर खड़ा है, क्रेता की आवश्यकताओं का उसमें कोई लिहाज नहीं रहता।

कृत्रिम माँग : भौतिक सुख और समृद्धि ही जीवन का उद्देश्य नहीं है। जरूरतों को बराबर बढ़ाते जाने से जीवन के मूल उद्देश्यों में गड़बड़ी होगी और कारखानेदार नये-नये ढंग और फैशन चलाकर जिन चीजों को जनता के मत्थे मढ़ना चाहते हैं, उनका महत्त्व बढ़ जायगा। गोदामों में भरे हुए माल को खपाने के लिए चूँकि उनकी झूठी उपयोगिता बतायी जाती है, इसलिए इसके फलस्वरूप संस्कृति विकृत हो जाती है।

हमारे जीवन की व्यवस्था मानव-जीवन के नैतिक मूल्य, सांस्कृतिक मूल्य, कलात्मक मूल्य, शारीरिक और पोषक मूल्य इत्यादि बहुरूपी पक्षों को

उन्नत और विकसित करने की दृष्टि से स्थिर किये हुए विभिन्न पैमानों के आधार पर होनी चाहिए। उचित मार्ग-दर्शन मिलने पर जीवन प्रकृति के नियमों के अनुसार चलेगा, उसका विरोध करके हिंसा का निर्माण नहीं करेगा और इस प्रकार मानव अस्तित्व को महत्त्वपूर्ण बनायेगा।* ●

दो

सर्वेक्षण और योजना

सर्वेक्षण के प्रकार : जाँचें (सर्वेक्षण) और योजनाएँ सब एक तरह की नहीं होतीं, उनमें बड़ा अन्तर होता है। सुविधा के लिए हम उन्हें चार भागों में बाँट सकते हैं: (क) शास्त्रीय, (ख) प्रचारात्मक, (ग) नैदानिक और (घ) चिकित्सात्मक।

शास्त्रीय सर्वेक्षण : जो लोग शास्त्रीय जाँचों में लगते हैं, वे वैसे चाहे कितने भी लैस क्यों न हों, पर यह समझा जाता है कि वे प्रश्न को खुले दिमाग से नहीं, बल्कि खाली दिमाग से हाथ में लेंगे। हर चीज पूरे रूप से प्रमाणित होनी चाहिए और प्रमाणों के आधार आँकड़े, सर्वमान्य विज्ञप्तियों या दूसरे प्रामाणिक लेख होने चाहिए। पूर्णता-प्राप्ति की समय-सीमा अनंत रखी जाती है। वैज्ञानिक यथार्थता ही असली ध्येय होता है। दृष्टिकोण सर्वथा अनासक्त होना चाहिए और समस्या के साथ कोई व्यक्तिगत लगाव होना आवश्यक नहीं है। फिर जो नतीजे निकलते हैं, वे ईश्वर की गोद में डाल दिये जाते हैं।

---

* देखिये, श्रम-मीमांसा, पृष्ठ ३०–३८।

प्रचारात्मक सर्वेक्षण : भिन्न-भिन्न शाही कमीशनों और सरकारी जाँचों की ऐसी ही अनगिनत रिपोर्टें भरी पड़ी हैं। अगर उनके निष्कर्ष से उनका महत्त्व आँका जाय, तो जनता को पूर्वनियोजित मार्ग द्वारा रोक-थाम पैदा करके चलना जरूरी हो जाता है। ··· सीधे-सादे लोगों को भी खूब समझ-बूझकर बनायी गयी दलीलों, आँकड़ों और अर्ध-सत्यों द्वारा इच्छित विचारधारा अपनाने को विवश किया जाता है। इन कमेटियों में लोग खाली मस्तिष्क से काम करने नहीं आते, बल्कि पूर्वनिश्चित विचारों को लेकर उन्हें प्रमाणित करके दूसरों पर लादने के इरादे से चलते हैं। ऐसी जाँचें प्रचारात्मक होती हैं।

नैदानिक सर्वेक्षण : नैदानिक जाँचों में ज्ञान और अनुमान-प्राप्ति का ध्येय होता है। जब डॉक्टर व्याख्यान देता है, तो उसका उद्देश्य रोग का ज्ञान पाना होता है, न कि रोगी को स्वस्थ करना। रोगी को समझने-समझाने में मदद देने के लिए एक सुविधाजनक माध्यम का काम देता है। इस तरह की जाँचों में भाग लेनेवाले लोग या तो ऐसे विद्याभिमानी होते हैं, जो बड़े-बड़े पोथे छापना चाहते हैं या ऐसे विद्यार्थी, जिन्हें इसके द्वारा 'डिग्री' लेनी होती है। इस तरह की जाँच उपयोगिता का विचार रखे बिना की जाती है।

इन जाँचों में क्षेत्रों में प्रत्यक्ष काम नहीं के बराबर होता है। सारी जानकारी पुस्तकालयों या बहुत हुआ तो भलीभाँति सोच-समझकर भेजी हुई प्रश्नावली के उत्तरों से ली जाती है।

चिकित्सात्मक सर्वेक्षण : इलाज के लिए की गयी जाँचें रोग के स्थान पर रोगी पर ध्यान केन्द्रित करती हैं। जब एक डॉक्टर रोगी का इलाज करने लगता है, तो न तो वह खाली दिमाग से जाता है और न पक्षपातरहित होकर जाता है और न ज्ञानवृद्धि के लिए रोगी की चीड़-फाड़ करना ही उसका ध्येय होता है, बल्कि वह तो अपने अर्जित ज्ञान को रोगी को स्वस्थ करने में लगाने की दृष्टि से पहुँचता है। खोज करनेवाले का विषय के साथ संबंध और उसके ऊपर उसका प्रभाव, यही

मुख्य बात है। इसमें यक्ष्मा की बीमारी पर पुस्तक नहीं लिखी जाती, न ज्ञान-वृद्धि ही इसका ध्येय होता है, बल्कि यहाँ तो केवल रोगी की रक्षा ही एकमात्र ध्येय रहता है।

गांधीजी ने जो ढंग अपनाये हैं, वे इस प्रकार की जाँचों के सुन्दर उदाहरण हैं। बिना ढोल बजाये और मिथ्या विद्याभिमानी प्रणालियों का सहारा लिये वे रोग को तुरन्त पहचानकर उसका इलाज सुझा सकते हैं।

अब हम इस पर विचार करेंगे कि इस प्रकार की जाँच में किन चीजों की आवश्यकता पड़ेगी। जैसे : कार्यकर्ता, पूँजी, प्रणाली और योजना।

कार्यकर्ता : जैसा कि बिना पूर्ण शिक्षा पाये और बिना कुछ समय के अभ्यास के किसी डॉक्टर के लिए रोग-निर्णय करना दुस्साहस ही कहलायेगा, वैसे ही बिना पूरी तैयारी के किसीको भी जाँच करने या सुझाव पेश करने का दुस्साहस नहीं करना चाहिए। किसी व्यक्ति को रोगी का इलाज करने के लिए बुलाया जाय और तब वह मेडिकल कॉलेज में जाकर क ख ग पढ़ना शुरू करे, तो ऐसे मनुष्य की हम हँसी उड़ाये बिना न रहेंगे।

यदि यह काम किसी कमेटी को सौंपा गया है, तो कमेटी के हरएक सदस्य को अपने हिस्से का काम पूरा करना चाहिए। ऐसे काम में कोई निजी स्वार्थ तो सोचा ही नहीं जाना चाहिए। इसलिए ऐसी कमेटी निःस्वार्थ कर्तव्यनिष्ठ कार्यकर्ताओं की होनी चाहिए।

पूँजी : हमारा देश निर्धन है और अगर कहीं इस गरीबी को दूर करने की बात सोचनेवाले डॉक्टर ही इस रोग को और बढ़ानेवाले प्रमाणित हों, तो यह तो बड़ा दुर्भाग्य होगा। जब निर्धन से पैसा लेकर धनवान् को दिया जाता है, तो उस सम्पत्ति का मूल्य मानवीय मापदण्ड से कम हो जाता है। यदि ऐसी कमेटियों का खर्च गरीबों से लिये जानेवाले कर से वसूल किया जाता है, तो यह राष्ट्रीय सम्पत्ति की हानि है। इसलिए इन कमेटियों को केवल उतना ही पैसा दिया जाना चाहिए, जितना कि इनका असली खर्च है,

और यह खर्च भी कम-से-कम रखा जाना चाहिए। इसलिए यथासम्भव जाँच की अवधि कम-से-कम रखने का प्रयत्न करना चाहिए।

प्रणाली : इसी कारण जाँच-प्रणाली भी सरल रखी जानी चाहिए। जिन कामों का जाँच से विशेष सम्बन्ध नहीं है, उन्हें टालने का प्रयत्न रहे। यदि सर्वथा खाली दिमाग से समस्या हल करनी है, तब तो बात दूसरी है, अन्यथा बड़ी और जोरदार प्रश्नावलियाँ तैयार करने की कोई जरूरत नहीं है। प्रश्न इस तरह के होने चाहिए, जैसे डॉक्टर रोगी का हाल जानने के लिए पूछा करता है—आवश्यक और थोड़े से। यह खयाल रखा जाय कि रोगी पर उन प्रश्नों से अधिक जोर तो नहीं पड़ता!

कमेटी के सदस्यों को उन लोगों से गहरा सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए, जिनकी जाँच उन्हें करनी है। उसके लिए उन्हें गाँवों में जाकर प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त करनी होगी। अगर कमेटी अपना काम मन लगाकर करे, तो यह काम स्वयं ही सबसे आवश्यक और प्राथमिक हो जाता है, क्योंकि सब परिणामों का मध्यबिन्दु तो यही है।

योजना : आवश्यक जानकारी, प्रतिक्रिया और स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने के बाद हमें योजना बनानी चाहिए। योजना हमेशा व्यवहार्य होनी चाहिए, हवाई नहीं। जनता की तात्कालिक आवश्यकताओं को सामने रखकर उपाय सोचे जाने चाहिए। ये उपाय बिलकुल साफ-साफ होने चाहिए। जनता के उपयोग की वस्तुएँ और प्राकृतिक देनें व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए काम में न लायी जायँ। भारत को यदि अहिंसक आधार पर चलाना है, तो अन्य कोई मार्ग है ही नहीं।*

योजना

योजना की आवश्यकता और उसका स्वरूप

यदि हम कोई योजना बनाना चाहते हैं, तो उसे आखिर किस हेतु से बनाते हैं? कई लोग ऐसा मानते हैं कि राष्ट्रीय योजना बनाना बड़ी टेढ़ी

* देखिये, गाँव-आन्दोलन क्यों?, पृष्ठ १३०–१३८।

खीर है और केवल तज्ञ और विशेषज्ञ ही उसे समझ सकते हैं। पर वास्तव में यदि एक मामूली आदमी भी हमारी योजना का मकसद या हेतु नहीं समझता है, तो हमारी वह योजना बेकार है। यदि हमारे किसान हमारी योजना का मतलब नहीं समझते हैं और उसे कार्यान्वित करने में दिलोजान से सहायक नहीं होते हैं, तो वह राष्ट्रीय योजना नहीं कही जा सकती है। यह मूलभूत बात हम जब तक अच्छी तरह नहीं समझ लेते हैं, तब तक हम कोई भी योजना कार्यान्वित नहीं कर सकते हैं। हाँ, यदि हम रूस जैसा हिंसा का प्रयोग करें, तो फिर रूस के माफिक किसी भी योजना को हम राष्ट्रीय कह सकते हैं। अपनी योजना कार्यान्वित करने में हम खून बहाना नहीं चाहते। हम तो यह चाहते हैं कि योजना लोगों के सामने रखी जाय। उसे देखकर लोग स्वयं समझ लें कि वह उनके फायदे की है या नहीं। यदि वे उसे पसंद करते हैं, तो उनका सहकार हमें अवश्य मिलेगा।

हमें तो ग्रामों का ऐसा संगठन करना है, जिससे ग्रामीण जनता अधिक सुखी और समृद्ध बने और हरएक व्यक्ति को व्यक्तिगत तौर पर और एक अच्छे संगठित समाज के घटक के तौर पर विकास की पूरी गुंजाइश रहे। यह काम स्थानिक व्यक्तियों की सहायता और स्थानिक साधन-सामग्री के अधिक-से-अधिक उपयोग द्वारा ही किया जाना चाहिए। आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक, सभी क्षेत्रों में सहकारिता द्वारा ऐसी ही उत्क्रान्ति होनी चाहिए। इसलिए स्वयंपूर्ण और संगठित गाँव बनाना हमारा ध्येय होगा। जिस गाँव में जो भी योजनाएँ बनायी जायँ, वे उस गाँव के फायदे की होनी चाहिए। पर साथ ही वे समूचे देश की बड़ी योजना की विरोधी नहीं होनी चाहिए। इस तरीके से काम करने से अंततोगत्वा एक न्यायसंगत और प्रजातंत्रवादी समाज-व्यवस्था आप ही आप निर्माण हो जायगी।

योजना का तात्पर्य : साध्य को सफल करने के लिए कई बातें इकट्ठी करना, इसको हम नियोजन कह सकते हैं। हिन्दुस्तान में वे कौन सी बातें हैं, जिन्हें हमें एक सूत्र में लाना चाहिए ? हो सकता है कि हमारे नियोजन में ऐसी कई बातें होंगी, जो दूसरे देशों में नहीं पायी जातीं। इसलिए जो

नियोजन रूस ने जारी किया या इंग्लैण्ड तथा अमेरिका ने स्वीकृत किया, वह हमें अपने ध्येय पर पहुँचाने के उपयुक्त न होगा।

जब हम ग्रेट ब्रिटेन का नियोजन बतलाते हैं, तब एक ताज्जुब की बात हो जाती है। ब्रिटिश लोग योजना नहीं बनाते हैं, पर योजनापूर्वक काम करते हैं। यह उनकी खासियत है। वे हरएक आदमी को विशिष्ट योजना के मुताबिक काम करने पर बाध्य करते हैं। अव्वल में यदि कोई नियोजन न होता, तो आज ब्रिटिश साम्राज्य और ब्रिटिश व्यापार दिखायी न देता। ब्रिटिश लोगों की आर्थिक कार्यवाहियाँ, साम्राज्य के मुख्तलिफ मुल्कों में जारी की हुई व्यापार-विषयक रिआयतें, उनकी नौसेना, उनकी नाविक नीति, ये सब उनके नियोजन के अंग हैं। शायद वह राष्ट्रीय नियोजन न होगा, वह लन्दन से या बैंक आफ इंग्लैण्ड से जारी किया हुआ नियोजन होगा; पर वह आखिर है तो नियोजन ही !

सारांश यह है कि ये सब नियोजन—भले वह रूसी नियोजन हो, अमेरिकी नियोजन हो या अंग्रेजी नियोजन हो—अपनी-अपनी परिस्थितियों के कारण बने हुए हैं। अगर उन सब चीजों की हस्ती हमारे देश में न हो और उन देशों की जैसी अवस्था हमारे देश में न पायी जाती हो और ऐसी हालत में भी हम अगर उन्हींकी राह पर चलकर अपना नियोजन बनायेंगे, तो हम बेशक धोखा खायेंगे।

योजना : हिन्दुस्तान जैसे दारिद्र्य, गंदगी, बीमारी और अज्ञान से भरे देश की योजना में नीचे दिये हुए मुख्य कार्यक्रम होने चाहिए :

१. कृषि,

२. ग्रामीण उद्योग,

३. सफाई, आरोग्य और मकान,

४. ग्रामों की शिक्षा,

५. ग्रामों का संगठन,

६. ग्रामों का सांस्कृतिक विकास, ।

मकसद : रूसियों ने जब नियोजन किया, तब रूस जार की हुकूमत के

नीचे दबा हुआ था। अमीर लोग धन-मद में मस्त थे और गरीब लोग जुल्म के नीचे रगड़े जाते थे। इसका स्वाभाविक नतीजा यह हुआ कि किसानों ने पुकार की कि जब हम सत्ताधारी होंगे, तब हम भी माल-मस्त बनेंगे। मालमस्त होना यानी अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाना और तृप्त करना। रहने के लिए आलीशान मकान, ऐशो-आराम की अच्छी-अच्छी चीजें, ये सब पैदा या प्राप्त करना ही उन्होंने अपना मकसद मान लिया और उनके लिए प्रयत्नशील हुए। उनके नियोजन की बुनियाद इस तरह की थी।

हिन्दुस्तान में हमेशा यह कहा जाता है कि गरीबी समाप्त करनी है। लेकिन गरीबी के मानी क्या? किसीने कहा है कि गरीबी के मानी हैं, अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ होना। पर आवश्यकता किसे कहा जाय? क्या रोल्स राइस मोटरगाड़ी एक आवश्यक चीज है? यदि कोई स्त्री लिपस्टिक (होठ रँगने की डिब्बी) खरीदना चाहती है, पर उसके पास उतने पैसे नहीं हैं, तो क्या वह गरीब है? कई आवश्यकताएँ बुनियादी रहती हैं, जिनकी पूर्ति के बिना आदमी का जीना असम्भव-सा हो जाता है। आदमी को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए और अपनी हस्ती टिकाये रखने के लिए वे आवश्यक होती हैं। ये कुदरती भी हैं और इन्हींकी पूर्ति के लिए हम कोशिश करेंगे, न कि कृत्रिम आवश्यकताओं की।

बुनियादी आवश्यकताओं में भी अहम दर्जे की कौन-सी हैं? प्रथम तो भोजन है। आप नंगे रह सकते हैं, पर भूखे नहीं रह सकते हैं। हमारे देश में अकाल आकस्मिक न बनकर सदा की चीज हो गया है। इसलिए हमारी योजना का उद्देश्य इस हालत को मिटाने का होना चाहिए। अकाल से हम कैसे बचें और लोगों को हम अधिक खुराक कैसे दें? इसके लिए हमारे पास कौन से साधन हैं? क्या पूँजी के बल पर यह हम सिद्ध कर सकेंगे? कई लोग कहते हैं कि आप जितनी अधिक पूँजी लगायेंगे, उतना आपका उत्पादन अधिक होगा। अर्थशास्त्र के पंडितों ने आवश्यक पूँजी का और उसके फलस्वरूप बढ़नेवाली प्रतिशत पैदावार का हिसाब लगाया

है। वे शायद मानते हैं कि खेतों में पैसा बोने से पैदावार बढ़ सकती है ! पर ऐसा कभी नहीं होता।

हमारे देश में उत्पादन का सबसे बड़ा साधन मनुष्य की मेहनत है। यदि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हमें करनी है, तो इस बढ़िया साधन का अधिक-से-अधिक उपयोग कर हमें अपनी भूख की तृप्ति करनी चाहिए।

उत्पादन की पद्धति के बारे में विदेशों में ऐसी मान्यता है कि आधुनिक यन्त्रों से सुसज्जित बड़े-बड़े कारखाने खोलने से लोगों की माली हालत सुधर जायगी। इस मान्यता को सच मानने के पहले हमें उसकी जाँच करनी चाहिए। लाभदायक रीति से उत्पादन के संगठन का अर्थ है, उत्पादन के कई घटकों को योग्य रीति से एक जगह लाना। इन घटकों में मुख्य है, कुदरती साधन, पूँजी और मजदूर। विभिन्न परिस्थितियों में इनमें से कुछ मौजूद रहेंगे और कुछ मौजूद नहीं रहेंगे। ब्रिटेन में जब औद्योगिक क्रान्ति हुई, तब वहाँ पूँजी की बहुतायत थी, इसलिए वहाँ की व्यवस्था पूँजी-प्रधान है। अमेरिका में मजदूरों की कमी थी, पर कुदरती साधन बहुतायत से थे, इसलिए वहाँ श्रम बचाने के लिए बनायी गयी मशीनों का प्राधान्य रहा। यदि हम उन चीजों को अपने यहाँ भी वैसे ही बरतने लग जायँ, तो साफ है कि मजदूरों की कम आवश्यकता पड़ेगी और बेकारी बढ़ेगी। इसलिए हमारे देश में, जहाँ पूँजी कम है और मजदूर अधिक हैं, इंग्लैण्ड और अमेरिका की हू-ब-हू नकल करना गलत होगा।·········
अपने देश में पायी जानेवाली परिस्थिति के लिहाज से हमें मजदूरों द्वारा ही उत्पादन करने का रवैया अख्तियार करना चाहिए। यदि हम ऐसा नहीं करते हैं, तो हम इतनी बड़ी मनुष्य-शक्ति बेकार जाने देने की मूर्खता करते हैं।

किसी राष्ट्र की समृद्धि केवल उसके भौतिक उत्पादन पर ही निर्भर नहीं रहती। ऐसा उत्पादन तभी तक ठीक है, जब तक वह वहाँ के लोगों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए होता है। इसलिए सबसे पहले तो हमें लोगों को उनकी आवश्यकता की चीजें तैयार या पैदा करने के लिए संगठित

करना चाहिए। खाने के लिए भरपूर खुराक, पहनने के लिए समुचित कपड़े और रहने को ठीक मकान, ये पहले नम्बर की जरूरतें हैं। उनके बाद उनकी शारीरिक, बौद्धिक और आत्मिक उन्नति के लिए औषधोपचार, शिक्षा और सामाजिक सुविधाएँ पूरी करने का सवाल आता है। जब तक हम अपनी बुनियादी जरूरतें पूरी नहीं कर लेते, तब तक निर्यात के लिए उत्पादन करने की बात सोचना ही बेवकूफी है। रुपयों की खन-खन सुनने की हविस रखनेवाले कंजूस की हविस पूरी करने के सिवा वह अन्य कोई आवश्यकता धातु के रूप में पूरी नहीं कर सकता। केवल रुपया बटोरना किसीका ध्येय बन नहीं सकता। यदि हमारी व्यवस्था ऐसी हो कि लोगों के पास रुपया तो काफी आ जाता है, पर उनकी आवश्यकता की चीजें उन्हें मिलती ही नहीं या उन्हें भूखा ही रहना पड़ता हो, तो ऐसा रुपया आखिर किस काम का ? हमारा पहला कर्तव्य तो लोगों के लिए भरपेट भोजन, रहने को मकान और पहनने को कपड़े मुहैया करने का है। दीगर बातें बाद की हैं। किसी भी सरकार का, जो सरकार कहलाने का दम भरती हो, पहला फर्ज यह है कि लोगों की सारी क्रियाएँ उनकी बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति में लगाये।

लोगों की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के अलावा उनमें स्वावलंबन, सहयोग और सामाजिक एकता की भावना पैदा करना भी हमारा कर्तव्य है। यदि हम इतना कर लेंगे तो स्वराज्य की राह की एक बड़ी मंजिल आत्मनिर्भरता के जरिये पार कर लेंगे।

यहाँ हमें यह याद रखना चाहिए कि हम जो योजना बना रहे हैं या बनाना चाहते हैं, वह चंद लोगों के लिए नहीं, बल्कि राष्ट्र के हरएक नागरिक के लिए है। यदि योजना संतोषजनक बनानी है, तो उसे हर एक आदमी के जीवन को स्पर्श करना चाहिए। इतनी विस्तृत बुनियाद की योजना, हमारे जैसे पूँजी के अभाववाले दरिद्र देश में, पूँजी के बूते पर बनायी ही नहीं जा सकेगी। इसलिए जो योजना पूँजी के बूते पर बनायी जाती है या खुराक जैसी बुनियादी जरूरतों की उपेक्षा करके बनायी जाती है या

उपलब्ध मनुष्य-शक्ति को भुलाकर बनायी जाती है, वह हिन्दुस्तान के लिए कभी उपयुक्त नहीं हो सकती। पश्चिम के राष्ट्रों की योजना का मध्यबिन्दु भौतिक उत्पादन है, यानी वे कुदरत के हरएक साधन का उपयोग कर लेना चाहते हैं। पर यह सब किसलिए, इस सम्बन्ध में उनकी राय कुछ पक्की नहीं है। मेजों और कुर्सियों का निर्माण करने से हमारी बुनियादी आवश्यकताएँ पूरी नहीं होतीं।

यदि कोई नयी आर्थिक व्यवस्था हिन्दुस्तान के लिए मान्य की जानेवाली हो, तो उसकी शुरुआत किसान से होनी चाहिए और क्रमश: उसी नींव पर सारे देश की आर्थिक व्यवस्था बाँधनी चाहिए। इस व्यवस्था से हम लोग शायद इंग्लैण्ड और अमेरिका के लोगों जैसे धनवान् न होंगे, लेकिन देश में खाद्य-पदार्थों की बहुतायत रहा करेगी।

अत: वस्त्र और खुराक की आत्मनिर्भरता हिन्दुस्तान की किसी भी योजना की बुनियाद होनी चाहिए। हर गाँव यदि वस्त्र और खुराक की दृष्टि से आत्मनिर्भर न बना, तो स्वराज्य मिलना बेकार हुआ। ··· इसमें जरूरत है जनता की कर्तव्य-शक्ति को उचित मार्ग दिखाकर उससे समुचित लाभ उठाने की।*

---

* देखिये, स्थायी समाज-व्यवस्था, पृष्ठ १३९-१४५।

तीन

•

औद्योगीकरण और विकेन्द्रित समाज-व्यवस्था

ऐसे दूसरे उद्योग भी हैं, जिनमें बहुत से लोगों को काम मिलता है और जमीन का बोझ हलका हो सकता है। इन उद्योगों को हम दो श्रेणियों में बाँट सकते हैं :

(क) ग्राम-उद्योग : ऐसे उद्योग, जिनसे बनी वस्तुओं की देशभर में माँग रहती है।

(ख) गृह-उद्योग : जिनसे सजावट या ऐश-आराम की चीजें बनती हैं।

ग्राम-उद्योग की परिभाषा

जिन उद्योगों में नीचे लिखे गुणों में से सब या अधिकतर मौजूद हों, उन्हें ग्रामोद्योग मानना चाहिए :

१. जो गाँवों के लिए आवश्यक वस्तुओं का गाँववालों के लिए उत्पादन करते हैं।

२. उत्पादन-विधियाँ गाँववालों की पहुँच के भीतर हैं।

३. ऐसे औजार और यंत्र काम में लाये जाते हैं, जो गाँववालों की आर्थिक पहुँच के भीतर हैं।

४. जिनमें स्थानीय कच्चे माल का उपयोग होता है।

५. चालक-शक्ति मनुष्य, पशु द्वारा प्राप्त होती है।

६. जिनका बना माल स्थानीय अथवा पास-पड़ोस के बाजारों में बिकता है।

७. जिनसे मजदूरों में बेकारी नहीं पैदा होती।

इनमें से कुछ उद्योगों में बहुत-से लोगों का सहयोग आवश्यक होना संभव है। यह सहयोग चाहे मजदूरी लेकर प्राप्त किया जाय या लाभ बाँटकर। किसी भी उद्योग में मजदूरों की संख्या उद्योग-विशेष पर निर्भर रहेगी।

गृह-उद्योग की परिभाषा

गृह-उद्योग वे उद्योग हैं, जिनमें कारीगरों को अपने घरों में बैठकर पूरे दिन काम करना पड़ता है। इन धन्धों के लिए खास यन्त्रों से सुसज्जित कारखाने खड़े नहीं करने पड़ते, घरों में ही उन्हें चला सकते हैं।

उदाहरणार्थ : सुनार का काम, मोची का काम, दर्जी का काम आदि।

घरेलू उद्योगों की परिभाषा

घरेलू उद्योग वे धन्धे हैं, जिन्हें परिवार के सदस्य मिलकर अपने फालतू समय में करते हैं।

उदाहरणार्थ : कताई, फल-संरक्षण, कसीदा काढ़ना, मधुमक्खी-पालन आदि।

पहले उद्योग वे हैं, जो खाद्य-पदार्थों को भोज्यावस्था में लाने से संबंध रखते हैं। जैसे–आटा पीसना, धान कूटना, तेल पेरना, गुड़ बनाना आदि। इसके अतिरिक्त दूसरे सहायक धन्धे ऐसे हैं, जो खेती-बारी के साथ-साथ चल सकते हैं। जैसे : मधुमक्खी-पालन, रेशम के कीड़े पालना, लाख की खेती आदि। दूसरे कुछ धन्धे हैं, जो खास लोगों के धन्धे हैं और देश-भर में वे ही उसे करते हैं। जैसे : चमड़ा सिलाना, कागज बनाना, रस्सी बटना, टोकरी बुनना, कुम्हार का काम, वढ़ईगिरी आदि। इन उद्योगों को प्रमुख कह सकते हैं।

इनके अतिरिक्त ऐसी दस्तकारियाँ हैं, जो प्राथमिक आवश्यकता की तो नहीं, पर दैनिक आवश्यकता की बन गयी हैं। जैसे : साबुनसाजी, छपाई, रँगाई, कलात्मक काम, धातु की कारीगरी आदि।

हमारा मुख्य ध्येय यह है कि उत्पादन विस्तृत आधारवाला हो और उन्हीं वस्तुओं के उत्पादन का प्रयत्न करें, जिनकी उन्हें स्वयं आवश्यकता होती है; न कि उन चीजों का, जिन्हें अमीर लोग काम में लाते हैं। जब तक हम उत्पादन उन वस्तुओं तक सीमित रखते हैं, जैसे: सादे सूती कपड़े, देहाती चप्पल-जूते और चटाई आदि, तब तक बाजार ढूँढ़ने और बिक्री के स्थल तलाश करने की जरूरत नहीं पड़ती। पर जब उत्पादन अमीरों की जरूरतों को पूरी करने के लिए होता है, उस स्थिति में लाभ अधिक हो सकता है, पर बिक्री की कठिनाइयों के कारण इस धन्धे का ज्यादा फायदा उत्पादकों के बजाय बीच के दूकानदारों के हाथों में चला जाता है।

हमारा उद्देश्य सम्पत्ति थोड़े से लोगों के हाथों में इकट्ठा न होने देकर अधिक-से-अधिक लोगों में वितरित करना रहे।

विकेन्द्रीकरण

हमें विकेन्द्रीकरण को देखना चाहिए और मालूम करना चाहिए कि किन परिस्थितियों में इससे लाभ उठाया जा सकता है।

१. जहाँ पूँजी की कमी है, वहाँ केन्द्रीकरण न तो संभव ही है और न आवश्यक। केवल विकेन्द्रीकरण ही संभव है।

२. जहाँ श्रम की बहुतायत है और पूरी या अर्ध-बेकारी का बोल-बाला है, वहाँ केन्द्रित उत्पादन द्वारा इस दोष को और बढ़ाने में हम सहायक होंगे।

३. भिन्नता और नवीनता विकेन्द्रीकरण का असली निचोड़ है। जहाँ इसकी आवश्यकता है, हाथ के काम का कोई मशीन मुकाबला नहीं कर सकती। विशेषकर उन दस्तकारियों, में जहाँ दस्तकारी कारीगर के व्यक्तित्व की छाप लिये रहती है।

४. यदि जनतंत्र की स्थापना करनी है, तो विकेन्द्रीकरण उसके बीज बोता है, क्योंकि केन्द्रीकरण से जनता की निजी सूझ-बूझ मारी जाती है और वह बड़ी आसानी से केन्द्रित तानाशाही की शिकार बन जाती है।

५. जहाँ कच्चा माल और बाजार उत्पादन-केन्द्र से मिले हुए होते हैं, विकेन्द्रित तरीके अच्छी तरह काम देंगे ।[१]

इससे लाभ

१. विकेन्द्रीकरण द्वारा धन-वितरण अधिक सम तरीके से होने के कारण यह लोगों को संतोषी बनाता है ।

२. इसमें मूल्य का अधिक भाग मजदूरी के रूप में दिया जाता है, इसलिए उत्पादन-विधि का ठीक बँटवारा होने से माँग को पूरी कराने की शक्ति भी बढ़ जाती है और उत्पादन माँग के अनुसार होने लगता है ।

३. हरएक उत्पादक अपने कारखाने का मालिक होता है, उसे अपनी सूझ-बूझ काम में लाने का काफी मौका मिलता है । सब जिम्मेदारी उसीके कन्धों पर रहने से उसमें व्यावसायिक विधि और बुद्धि पैदा हो जाती है । जब प्रत्येक आदमी का इस प्रकार विकास होगा, तो राष्ट्र की समझ भी बढ़ेगी ।

४. बिक्री की जगह उत्पादन-केन्द्र के नजदीक होने से चीजें बेचने में कोई कठिनाई नहीं होती और न चीजें बेचने के लिए विज्ञापन और आधुनिक दूकानदारी के दूसरे ढंगों की शरण लेनी पड़ती है ।

५. जब धन और शक्ति विकेन्द्रित होगी, तब राष्ट्रीय पैमाने पर किसी प्रकार की अशान्ति नहीं होगी ।[२]

समाज-व्यवस्था

हम अपने आदर्शों से दूर जा पड़े हैं और अगर हम फिर उठना चाहते हैं, तो हमें अपने पूर्वजों के आदर्शों को फिर ढूँढ़ निकालना होगा । हमारे सर्वनाश और पतन का मुख्य कारण राष्ट्रीय विशेषता को खो देना और लोगों की स्वार्थपरता है । समाज कई तरह के लोगों से मिलकर बनता है । हम उनके चार विभाग कर सकते हैं :

१. देखिये, गाँव-आन्दोलन क्यों ?, पृष्ठ १६८–१६९ ।

२. देखिये, वही, पृष्ठ २१-२२ ।

१. जो जीवन का उच्च दृष्टिकोण लेकर चलते हैं और अपने आदर्शों पर जीवन बिताते हैं।
२. जो जीवन का सीमित दृष्टिकोण रखते हैं।
३. जो सिर्फ अपने जीवन को ही सब कुछ मानते हैं।
४. जो बिना कुछ सोचे-समझे लकीर की फकीरी किये जाते हैं। वर्णाश्रम में इन्हींको ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के नाम से पुकारते हैं।

ब्राह्मण तो वह है, जो भविष्य में बड़ी दूर तक की सोचता है। इसलिए इस मिट्टी के चोले की परवाह न कर वह तो अपने आदर्शों में निवास करता है। 'भिखारी का कमण्डल' उसीका चिह्न है। अपने आदर्श को पाने के लिए वह अपना सब कुछ त्याग देता है। वह आदर्शों का बलिदान जानता ही नहीं। सभी मस्तिष्क से काम करनेवालों की यह गति होती है। अपने निजी स्वार्थ के लिए प्रकृतिप्रदत्त शक्तियों का अनुचित लाभ उठाने के लिए वे आर्थिक क्षेत्र में एक प्रकार से निर्वीर्य या असमर्थ होते हैं। उनके जीवन का उद्देश्य सच्चे उपायों से समाज की सेवा होती है और इसके लिए उन्हें मिलता है पद और आदर।

इसके बाद क्षत्रिय को देखिये। वह जीवन को इस प्रकार देखता है कि अपने जीवन की तो आदर्श के सामने कुछ परवाह नहीं करता, पर उसकी दृष्टि अपने समाज की भलाई तक ही सीमित रह जाती है और अपने आदर्शों के साथ वह उस हद तक समझौता करने को तैयार हो जाता है, जहाँ तक उसके समाज के हित का सवाल है। उसका निशान झंडा है। समाज की भलाई में वह अपने को दे डालता है। उसका वैभव समाज-सेवा है, और पुरस्कार है—पद और शक्ति।

तीसरी किस्म का जीव अपने तक ही सीमित रहता है। उसके आगे वह देख ही नहीं पाता। उसका आदर्श जेल से बचते हुए जीवन का आनन्द लूटना है। वह स्वयं सीमित रहता है और उसका प्रतीक तराजू है। वह है वैश्य, संसारी, व्यापारी और व्यापारिक संस्थाओं का मालिक, जो धन

तो संग्रह कर लेता है, पर सामाजिक मान और मर्यादा उसी सीमा तक पाता है, जिस सीमा तक कि वह अपना धन समाज के हित के लिए दान करता है।

सबके अन्त में है शूद्र। इसमें वैश्य का व्यापारिक साहस और व्यक्तिगत लाभ के लिए सोच-विचारकर काम करने की भी क्षमता नहीं है। उसे बना-बनाया रास्ता पसन्द है। वह अपने वेतन, पेन्शन और संचित कोष से ही संतुष्ट रहता है।

जन्मना ब्राह्मण—जो वकालत द्वारा लोगों के झगड़ालूपन का लाभ उठाकर पैसा बनाता है, ब्राह्मण नहीं, वैश्य है। जन्मना क्षत्रिय—जो पैसों के लिए विदेशी सरकार की गुलामी करता है, क्षत्रिय नहीं है, क्योंकि वह अपने-आपको बेचता है। सच्चा क्षत्रिय आजादी के लिए अपना रक्त बहा देगा, पर अपनी आत्मा गिरवी नहीं रखेगा।

ऊपर का सारा आवरण हटा देने के बाद वर्ण-व्यवस्था का सच्चा स्वरूप यही रह जाता है। सामाजिक सुव्यवस्था के लिए सर्वनाश करनेवाली आपसी कण्ठच्छेदी स्पर्धा को यह रोकती है और कानून तथा शान्ति के लिए सहकारिता और आज्ञाकारिता पर जोर देती है। यह धन-व्यवस्था से सर्वथा भिन्न सांस्कृतिक मापदण्ड के मूल्यों पर अधिष्ठित है। जब हम मानवीय आवश्यकताओं को सामने रखते हैं, तो भौतिक बातें नगण्य बन जाती हैं। समाज में हमारा स्थान अधिकारों के बजाय कर्तव्य निर्धारित करना है। जहाँ ये बातें एक बार पूर्णतः स्थापित हुई कि हम शान्ति का मार्ग निकालने में समर्थ हो जायेंगे। फिर तो कोई लड़ाई-झगड़ा होगा ही नहीं।

सामाजिक जीवन

मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन तो एक छोटी-सी चीज है, पर उसका जब दूसरों से सम्बन्ध होता है, तब इसको कई मर्यादाएँ लग जाती हैं। मनुष्य जैसा चाहे, वैसा बर्ताव नहीं कर सकता। उसके आचरण पर दूसरों की भलाई का अंकुश लगा रहता है। इसलिए किसी भी व्यक्ति की आदतों

पर, उसके स्वास्थ्य और उसकी रहन-सहन पर उसके आसपास के वातावरण की छाया पड़े बगैर नहीं रहती।

इस बात को ख्याल में रखकर लोगों को सामाजिक जीवन कैसे बिताना चाहिए, इसके हम कुछ सर्वसामान्य नियम बना सकते हैं। हिन्दुस्तान में बहुत-से लोग छोटी-छोटी झोंपड़ियों के बने गाँवों में रहते हैं। इसलिए इस दृष्टि से ग्रामीण जीवन का अभ्यास करना चाहिए।

··· जब ग्राम संगठित हो जायेंगे, तब वे अपनी एक खास संस्कृति का निर्माण करेंगे, जो उस संगठन की खासियत होगी। यह ठीक उसी प्रकार होगी, जिस प्रकार किसी व्यक्ति की अपनी खासियत होती है। ग्रामीण जीवन की इन बातों के कारण हम स्थायित्व की ओर अग्रसर होंगे। मनुष्य की उम्र अधिक-से अधिक ७० साल की होती है, पर ग्रामीण संस्कृति पर अधिष्ठित यह संगठन स्थायी बन जायगा। हम जो संस्कृति निर्माण करेंगे, वह केवल मनुष्य के स्वभाव पर ही अवलम्बित नहीं रहेगी। हमने सारी समस्याओं को हल करने के लिए अहिंसा और सत्य के रास्ते से कैसे चला जा सकता है, इसी दृष्टि को प्रधान रखा है। यदि काम सावधानी से किया जाय और बारीकी से अमल किया जाय, तो उन्हीं तत्त्वों की बुनियाद पर बना समाज हम कायम कर सकेंगे।*

ग्राम-सगठन

यह तीन संस्थाओं के मार्फत किया जा सकेगा : १. ग्राम की व्यवस्था के लिए ग्राम-स्वराज्य के आधार पर चलायी जानेवाली पंचायत, २. ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के लिए विविध उद्देशीय सहकारी संस्था, ३. गैर-सरकारी तौर पर तमाम ग्रामीणों की शक्ति ग्रामोत्थान की योजना की सफलता के लिए केन्द्रित करने के हेतु एक ग्राम-सेवा-संघ।

---

* देखिये, स्थायी समाज-व्यवस्था, पृष्ठ २०२-२०३।

हर गाँव या कुछ गाँवों को मिलाकर एक गाँव-पंचायत होनी चाहिए। इसका चुनाव प्रौढ़ मतदान की बुनियाद पर होना चाहिए और उसकी सुविधा के लिए गाँव या गाँवों को कई सुविधाजनक वार्डों में बाँट देना चाहिए। ···गाँवों से सीधा संबंध रखनेवाली हरएक विषय की जिम्मेदारी इस ग्राम-पंचायत की होनी चाहिए। उदाहरणार्थ : गाँव के नाते गाँवों के पीने के पानी का इन्तजाम, गाँवों की शिक्षा, गाँवों के दवाखाने, गाँवों की सफाई, कुछ हद तक न्याय-दान, गाँवों की रोशनी का इन्तजाम आदि की व्यवस्था ग्राम-पंचायत के जिम्मे होनी चाहिए।

···ग्रामीण संस्कृति की ओर किसीका भी ध्यान नहीं है। पर उसकी पुख्ता बुनियाद बिना ग्रामीण स्वायत्त शासन या ग्रामीण स्वावलम्बन के कभी स्थायी नहीं हो सकती। कई सदियों के अनुभवों के बाद भारत ने एक ऐसी संस्कृति निर्माण की है, जो सब किस्म के आघात सहकर पुख्ता बन गयी है। उसका नये दृष्टिकोण से अनुसंधान और परिवर्तन होना चाहिए। इस संस्कृति की देहातों की स्त्रियाँ खास वारिस हैं और इसीसे ग्रामीण जीवन को सुन्दरता और बल मिलता है। इस संस्कृति को पनपाने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये जाते हैं :

१. ग्रामों की परम्परा और आदतों, संस्थाओं और उनके इतिहास का अध्ययन किया जाना चाहिए।

२. लोक-गीत, लोक-कहानियों और लोक-कला का अध्ययन होना होना चाहिए।

३. कला-कौशल के हस्तोद्योग और अन्य ग्रामीण कलाओं का पुनर्जीवन और सुधार होना चाहिए।

४. ग्रामीणों की शिक्षा की दृष्टि से भजन, कीर्तन, नाटक आदि आयोजित करने चाहिए।

५. ग्रामीण उत्सव और अन्य महत्त्व के धार्मिक उत्सव आयोजित कर जाति-पाँति-निरपेक्ष ग्रामीण एकता बढ़ानी चाहिए।

६. ग्रामीण वाचनालय, संग्रहालय और अध्ययन-मंडल संगठित करने चाहिए ।

७. खेल-कूद, नृत्य आदि खुले मैदान में किये जानेवाले मनोरंजक कार्यक्रम संगठित करने चाहिए ।*

चार

राजनीति

मानवता के मुक्तिदाता अब्राहम लिंकन के इन शब्दों से हम परिचित हैं: "सरकार लोगों की बनायी हुई हो, उनकी अपनी हो और उनके अपने हित के लिए हो ।" सर जॉन्स ली ने इसके संकुचित रूप को समझाते हुए कहा: "ऐसी सरकार, जिसमें सब साझीदार हों ।" और ए० बी० डीसी ने जनतंत्र के लिए कहा है: "राज्य की बागडोर अपेक्षाकृत राष्ट्र के अधिक लोगों के हाथ में रहती है ।" इन सबमें जनतंत्र के सिद्धान्त के केवल राजनैतिक प्रभाव पर ही विचार किया गया ।

यथार्थ में जनतंत्र केवल राजनीति तक ही सीमित नहीं रहता । यदि ऐसा हो, तो जनतंत्र का अर्थ एक ऐसी अवस्था भी हो सकता है, जिसमें लॉर्ड वायल के अनुसार वह राष्ट्र की शारीरिक शक्ति और चुनाव अधिकार तक रह जाय और इसका मतलब होगा डिक्टेटरशिप या तानाशाही । दूसरी ओर जनतंत्र के बीज जीवन के हरएक क्षेत्र में जड़ पकड़ते और पनपते

* देखिये, स्थायी समाज-व्यवस्था, पृष्ठ १११-११२ ।

हैं। इसके अनुसार विषय की जाँच में हम धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों पर भी गौर करेंगे।

यदि जनतंत्र में जनता के सारे जीवन को प्रभावित करना है, तो साफ है कि इसका आधार राजनैतिक न रहकर सनातन सिद्धान्त होने चाहिए। फ्रांस की राजनैतिक क्रान्ति के समय जनतंत्र को ऐसा ही रूप देने का प्रयत्न किया गया, तो इसके फलस्वरूप यह नारा उठा—स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व। यदि उन तीनों सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देना है, तो एक ऐसे समाज की रचना करनी होगी, जिसमें उनको कार्यरूप प्रदान करने से व्यक्तियों के बीच झगड़े की सम्भावना न रहे।

सच्चे जनतंत्र में समाज-रचना की ऐसी योजना होनी चाहिए कि उसमें व्यक्तिगत विकास का पूर्ण अवसर रहे, परन्तु साथ-साथ कमजोरों के हितों की रक्षा और मदद करके अपेक्षाकृत साम्य भी रखना चाहिए। इस तरह एक ऐसा भाईचारा स्थापित हो जायगा, जिसमें कोई दूसरे का शोषण न कर सकेगा। सम्पूर्ण सामाजिक रचना उसके विभिन्न विभागों के विकास के आदर्श की द्योतक होगी।

जैसे ही जनतंत्र में किसी व्यक्तिविशेष या संघविशेष के हाथ में सत्ता केन्द्रित हो जाती है, वह समाप्त हो जाता है। इसलिए इसके संचालन का आधार हिंसा-बल या धन-शक्ति से प्राप्त होनेवाली ताकत न होकर जनता के हृदयों में न्याय, सत्य, अहिंसा और प्रेम के सनातन सिद्धान्तों को अपनाने की तीव्र इच्छा होनी चाहिए। तभी इस प्रणाली का कार्यक्रम स्वयंसंचालित, अव्यक्तिगत और उचित हो सकेगा।

कार्यरूपी जनतंत्र का निचोड़ फैले हुए चुनाव हैं। इसके विपरीत सांस्कृतिक जनतंत्र जनमत पर कायम होता है और जनता केवल चुनाव तक ही सीमित न रहकर प्रबन्ध-सत्ता में भी अपनी इच्छा प्रतिबिम्बित करती है। जिस प्रकार अधिकतर लोगों के चोरी न करने का कारण उनका जेल-भय न होकर दूसरे के अधिकारों का आदर करने की भावना को अपने आचरण का अंग बना लेना है, उसी प्रकार सच्चा सांस्कृतिक

जनतंत्र स्थापित करने के लिए हरएक व्यक्ति में सामाजिक भलाई करने की इच्छा अपने-आप जाग्रत होना और उसका उसीके अनुसार आचरण करना आवश्यक है। इसमें मत देने के इलाकों की जरूरत नहीं है, पर इसमें प्रबन्ध-शक्ति में प्रत्येक नागरिक थोड़ा-थोड़ा भागीदार होगा।

जब हम संसार की मानव-जातियों और जनतंत्र के विकास की जाँच करते हैं तो उनकी परिपक्वता और वातावरण के अनुरूप एक मजेदार शृंखला हमें मिलती है। दक्षिण यूरोप की गर्म जलवायु में सामाजिक जीवन पनपा और लोग गाँवों की घनी बस्तियों में रहने लगे। इससे यूनान और रोम की नगर-सभ्यताओं की उत्पत्ति हुई। लेकिन यूरोप के उत्तरी और पश्चिमी भागों में जुदा-जुदा, दूर-दूर चरागाह स्थापित करके वहाँ के लोगों ने व्यक्तिवाद पर जोर दिया। इस वातावरण में निजी नेतृत्व और बिना सवाल किये उसकी आज्ञा का पालन और जबरदस्त अनुशासन स्वीकार करने की ही आशा की जा सकती है। इस परम्परा के अनुसार तथाकथित ऐसी जनतांत्रिक पार्लियामेण्ट सरकार कायम करना स्वाभाविक ही है, जिसमें मतों की संख्या ही सब-कुछ है; उसी प्रकार धर्म में भी, पश्चिमी व्यवस्था की चोटी पर पोप बैठा है, सामाजिक जीवन में बादशाह या अदालतें हैं और अर्थशास्त्र में पूँजीपति है। जब तक नेतृत्व इस प्रकार के छोटे-छोटे विभागों में से आयेगा, स्वार्थों में झगड़ा अवश्य होगा और ये जनतन्त्र व्यक्ति अथवा गुटविशेष के एकतंत्र से थोड़े ही भिन्न रहेंगे। सच पूछो तो ऐसा जनतंत्र तो उन जंगली जातियों में भी मिल जायगा, जहाँ सरदार नर-मुण्डों की माला पहने राज करते हैं। गहराई से जाँचने पर हमें मुसोलिनी और हिटलर दिखाई देने लगते हैं और हमें इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट और पूँजीपतियों का गठबन्धन दृष्टिगोचर होता है, जनता का राज चलाने में कोई हाथ ही नहीं दिखाई देता। ऐसे जनतंत्र जनता की अज्ञानता पर ही फला-फूला करते हैं, जो परमुखापेक्षी हैं। शिष्टता, सज-धज, बनावटी सामाजिक आचार-व्यवहार, जनता से मिलने के बजाय उनको उससे

अलग करते हैं और इन्हींके द्वारा अगुआ जमात और चुनिन्दा लोगों का समूह आम लोगों से ऊपर उठा रहता है।

असली जनतन्त्र और सच्ची संस्कृति हमारी अन्तर्जातीय रुकावटों को पार करने के लिए पुल बनाने को प्रोत्साहन देती है। मौजूदा परिस्थिति में हम भौगोलिक, जाति-संबंधी और धार्मिक अलगाव राष्ट्रों के बीच पाते हैं और वर्ग-विभिन्नता राष्ट्र के अन्दर अनुभव करते हैं। इस तरह से शक्ति का संतुलन करने के लिए राष्ट्र और राष्ट्र तथा ऊँच और नीच के बीच मतभेद उत्पन्न करके एक अस्थायी अवस्था उत्पन्न कर दी गयी है। जैसा कि बर्ट्रेण्ड रसल ने कहा है : "इंग्लैण्ड अब तक अराजकता की उस परिस्थिति को कायम रखने में एक विशेष शक्ति रहा है, जिसे हमारे पुरखा युद्ध की स्वतन्त्रताओं के नाम से पुकारते थे।" यहाँ तक कि कार्ल मार्क्स की टक्कर के समाजवादी का भी विश्वास है कि गर्म देश यूरोपीय देशों के फायदे के लिए ही बने हैं और यूरोपवालों को अपनी उच्च सभ्यता के कारण उनसे लाभ उठाने का पूर्ण अधिकार है। जहाँ ऐसी संकुचित प्रांतीयता फैली हुई है और जहाँ फलस्वरूप मातृत्व तक को युद्ध-सामग्री के कारखाने का रूप दे डाला गया है, वहाँ हम स्वाधीनता, बराबरी और भाईचारे की आशा कैसे कर सकते हैं? इस प्रकार की संकुचित राजभक्ति को फैलानेवाली और लोगों में विभिन्नता पैदा करनेवाली वैयक्तिक या वर्ग-विशेष की सरकारें स्वभावतः अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का कारण बन जाती हैं। यही बात पश्चिम के धार्मिक क्षेत्रों में भी लागू होती है। धर्म-परिवर्तन कराने के पीछे पड़े हुए मिशनरी परधर्मों के विरुद्ध जो धर्मयुद्ध-सा ठान देते हैं, उसका कारण भी इसी प्रकार के वर्ग-विशेष की राजभक्ति ही है।

जैसे-जैसे हम पूरब की तरफ बढ़ते जाते हैं, हमें इसलामी जनतन्त्र मिलता है। इसने स्पष्ट रूप से जंगली और दिखावटी जनतन्त्र को छोड़ दिया है और सांस्कृतिक जनतंत्र की ओर अग्रसर होता दिखाई देता है। यहाँ व्यवस्था का प्रबन्ध व्यक्ति अथवा वर्ग-विशेष के कथनानुसार नहीं चलता, बल्कि सामाजिक-धार्मिक सिद्धान्तों द्वारा आजादी, बराबरी और भाई-

चारे को राजा से रंक, दुरात्मा से महात्मा और काले से लेकर गोरे तक लागू किया गया है। मक्का के पैगम्बर को स्वीकार करने की सीमा के अतिरिक्त इसका ओहदा करीब-करीब अन्तर्राष्ट्रीय बन गया है। सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, जातीय और भौगौलिक बन्धनों से ऊपर उठकर भी यह केवल धार्मिक सीमा नहीं लाँघ पाता है।

इसी प्रकार चीन और जापान (जैसा कि वह पश्चिमी तरीके अपनाने के ५० साल पहले था) में जनतंत्र धार्मिक सीमाओं से बँध गया, उसी प्रकार जागीरदारी, लड़ाई-झगड़ों और जातीय अलगाव के कारणों से अपने आदर्श को नहीं प्राप्त कर सका। इन सीमाओं के अन्दर के राष्ट्र कुछ हमारे देश से मिलते-जुलते थे। सच्ची सांस्कृतिक व्यवस्था अवैयक्तिक, निःस्वार्थ और कर्तव्यशील होती है। जब बर्ट्रेण्ड रसल बड़े स्वावलम्वी राष्ट्र की स्थापना लड़ाई-झगड़े समाप्त करने के लिए ठीक समझता है, तो वह मंगोल जनतंत्र का समर्थन करता है।

हमारे अपने देश के राजनीतिक जीवन की तस्वीर हमें अपने पुराने नीतिशास्त्रों और पुराणों में मिलती है। आज भी जनता के दैनिक जीवन की व्यवस्था सँभली और ठीक बनी होने का कारण बाहरी दबाव नहीं है, बल्कि यह वह सामाजिक-धार्मिक व्यवस्था है, जो लोगों के जीवन से एकाकार हो गयी है। यही चीज है, जिससे इस महाद्वीप के विभिन्न लोग आपस में एकसूत्र में बँधे हुए हैं। पश्चिमी लोग जब अपने ऊपरी जनतंत्र के चश्मे और भाषा से हमें देखते हैं, तो हमारी विभिन्न भाषाओं, रीति-रिवाजों और भौगोलिक अन्तरों के विभाजक गुणों के कारण कहते हैं कि न हममें एकता है और न राजनीतिक धारा, क्योंकि राजनीतिक धारा उनके अनुसार वही है, जहाँ जनता बिना पूछे-ताछे एक ही बात मानने को तैयार हो। इसी पर उनके जनतंत्र आधृत हैं। फिर भी काफी उन्नत दशा को प्राप्त हुई जनतांत्रिक सरकार गाँवों में थी और यह जनतंत्र धीरे-धीरे पूर्ण सांस्कृतिक जनतंत्र की ओर अग्रसर हो रहा है। सांस्कृतिक जनतंत्र में रंग या भौगोलिक सीमाओं जैसी भौतिक विभिन्नताओं से उस पर

कोई स्थायी असर नहीं पड़ता। हमारी प्रणाली इतनी जबरदस्त और विशाल थी कि विदेशियों और बाहर से हमला करनेवालों तक को पचाने में उसे कोई कठिनाई नहीं हुई। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस जनतंत्र के सिद्धान्त सदियों से सामाजिक नियमों और संस्थाओं द्वारा जनता के जीवन और विचारों में घुल-मिल गये हैं। यदि राजा होते थे, तो इस महान् यंत्र में एक पहिये की भाँति, जिसके लिए शुक्रनीति में कहा है कि वह वैभवयुक्त सिपाही या प्रबन्धक होता है। सच्ची सत्ता जनता के हाथों में रहती है। स्थानीय प्रभाव के सब मामलों का फैसला छोटी-छोटी विकेन्द्रित ग्राम-पंचायतें ही करती थीं। पंचायत की सत्ता जनता के उसमें निहित विश्वास पर आधृत है, यह विश्वास उन सदस्यों के जीवन की जनता द्वारा निजी जानकारी पर निर्भर है। और इस पंचायत का अधिकार कैद करने का न होकर दोषी को ग्रामद्रोही करार देने का है।

इसके विपरीत एक केन्द्रित सरकार जनता की सरकार नहीं हो सकती, जनता के हित के लिए काम करनेवाली भी कभी ही होती है। यदि सरकार को जनता की सरकार होना है तो उसकी पहुँच छोटे-से-छोटे गाँव तक होनी चाहिए। आधार कितना ही विशाल और मतक्षेत्र कितना ही विस्तृत कर देने से काम नहीं चल सकता।

इसके अतिरिक्त कोई भी वर्ग चाहे कितना ही अलग क्यों न रहे, जब उसके स्वार्थ दूसरों के हितों से टकराते हैं, तो वह निष्पक्ष रूप से काम नहीं कर सकता है। ऐसे मामलों में समय से भी अलगाव रखना आवश्यक हो जाता है। और कार्य का सम्पादन ऐसे व्यक्तिगत निःस्वार्थ नियमों के द्वारा, जैसे कि हमारे सनातन रूप की सरकारों में थे, होना चाहिए। ऐसा करने से कमजोर और गरीबों के हितों की रक्षा रहेगी। उदाहरणार्थ : सह-परिवार प्रणाली, वितरण के सुधार और समाज के निष्क्रिय असहाय सदस्यों के पालन के लिए एक प्रयत्न था। वस्तुओं में दाम चुकाने की बलूत-प्रणाली हरएक को गुजर करने लायक बनाने का एक तरीका था। जीवन का एक भी ऐसा पहलू नहीं था, जिसका प्रबन्ध

सोचा न गया हो। अवैयक्तिक विकेन्द्रित कार्यक्रम के बगैर हमारी सभ्यता अपने जीवन के इतने भूचालों को आज तक नहीं सह सकती थी। जब सांस्कृतिक जनतंत्र की विचारधारा की पवित्रता ऊँच-नीच और छोटे-बड़े के भावों से गन्दी हो गयी और जब संस्कृति के रक्षकों ने कर्तव्यों को भुला दिया और अधिकार जताकर उच्च वर्ग बन बैठे, तभी विनाश के बीज पनपने लगे और भारत विदेशी हमलों का शिकार बन गया।

विकेन्द्रीकरण हमारे जनतंत्र का आधार था। यह एक ऐसा महान् सिद्धान्त था, जिसे हमारे लोगों ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में काम में लिया था, यहाँ तक कि धर्म में भी। हिन्दू-धर्म से अधिक विकेन्द्रित और इसलिए विचार, कार्य और पूजन की विधियों के प्रति उदार धर्म मिलना सम्भव नहीं है। सामाजिक व्यवस्था वर्णाश्रम धर्म द्वारा निर्धारित होती थी, जिसका अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य समाज में उसके स्थान से स्थिर होता था। आर्थिक क्षेत्र में 'दूसरी जगहों पर जैसा होता है, वैसा चलने दो' के रवैये के कारण नतीजा यह हुआ कि बलवानों ने कमजोरों का शोषण आरम्भ कर दिया। इस प्रवृत्ति पर रोक लगाने और कम करने में वर्णाश्रम धर्म के मुताबिक विभाजन बड़ा सफल हुआ।

इस प्रकार आधारभूत सिद्धान्तों के बल पर बन्धनों और प्रतिबन्धों को लगाकर भारत ने एक हल निकाल लिया था, जो बड़ी हद तक सच्चे सांस्कृतिक जनतंत्र की बराबरी करता था और एक ऐसी राज्य-प्रणाली निकाली थी, जो सचमुच ग्रामराज्य था और गाँव के हित के लिए राज्य था।

लेकिन फिर भी एक कमी थी। वर्णाश्रम में अपनी सामाजिक व्यवस्था के अनुसार कर्म करने पर ही मोक्ष मिलता है। व्यक्ति का स्वयं कोई मूल्य नहीं है। उसका जो भी मूल्य है, वह समाज का सदस्य होने की हैसियत से है। वह उस जल-बिन्दु के समान है, जो झरने के पानी में बह जाता है। वह चला जाता है, पर झरना रहता है। व्यक्तिगत हित सबसे ऊँचे नहीं हो सकते। केवल समाज की भलाई का ही खयाल रखा जाता है और उसके कारण यदि किसीको तकलीफ भी भुगतनी पड़े तो उसका कोई महत्त्व

नहीं। परन्तु एक आदर्श जनतन्त्र में व्यक्ति को इस तरह भुलाया नहीं जा सकता, क्योंकि उसीके उत्थान पर समाज का उत्थान निर्भर है और मानव के सब प्रयत्नों का आदर्श उसका विकास है। जब हम समाज को ऐसा रूप देते हैं कि जहाँ व्यक्ति के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास की पूरी स्वाधीनता रहती है और जहाँ अपने विकास द्वारा वह दूसरों के विकास का कारण बनता है, वहाँ हमें आदर्श अवस्था प्राप्त होती है।

हमारी जाँच-पड़ताल इस नतीजे पर पहुँचती है कि पश्चिमी जनतंत्र अब तक इस अवस्था में पड़े हुए हैं, जहाँ राष्ट्र के कर्णधार व्यक्ति-विशेष और वर्ग-विशेष रहते हैं और जो हिंसा पर आधारित कार्य करते हैं। पूर्व के जनतन्त्र इस अवस्था को पार करके सांस्कृतिक अवस्था तक पहुँच गये हैं पर वे भी असली जनतंत्र तक पहुँचने में चूक गये हैं, क्योंकि वे धर्म या ग्राम-इकाई तक ही पहुँचे और व्यक्ति तक नहीं पहुँच पाये। जब संसार उस अवस्था पर अग्रसर हो, जहाँ प्रत्येक मनुष्य आदर्शों के अनुरूप चलता है, स्वधर्म का पालन करता है और उसके कार्य प्रेम और सत्य पर आधारित रहते हैं, तो हम लिंकन के ऊपरी जनतंत्र के आदर्श को सांस्कृतिक रूप से सम्मिश्रित करने के पश्चात् एक स्वयं क्रियाशील जनतंत्र प्राप्त कर लेंगे। यह एक ऐसी राज्य-व्यवस्था होगी और यही सारांश में प्रतिफलित होगी, 'जनता के द्वारा जनता के लिए, जनता की सरकार' में।*

सच्चा प्रजातन्त्र : जनतंत्र का मूलतत्त्व यह है कि शासन करने और कानून बनाने की ताकत जनता के हाथों में, प्रत्येक व्यक्ति में निहित हो। सूक्ष्म विचार से कह सकते हैं कि प्रत्येक नागरिक में अपने-आपको नियमित करने की योग्यता होनी चाहिए। ऐसा राष्ट्र सबकी भलाई का काम कर सके, इसलिए यह पहले जरूरी है कि वहाँ के हरएक नागरिक में ऊँचे दर्जे का चरित्र-गठन हो। अपने अधिकारों के ज्ञान की अपेक्षा अपने कर्तव्यों की भावना हर आदमी में खूब तीव्र होनी चाहिए। जब हरएक

---

* देखिये, गाँव-आन्दोलन क्यों?, पृष्ठ १९३-२०२।

नागरिक इतना नियम-पालक हो कि वह निःसंग भाव से विचार कर कर्तव्य करे तो उसके हाथों में शासन और विधान की ताक़त, के दुरुपयोग की आशंका छोड़कर, सौंपी जा सकती है। ऐसे राष्ट्र में जल, थल और वायु की सेवा या पुलिस की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी, क्योंकि हरएक नागरिक अपना कर्तव्य आप ही करेगा। उसका अन्तःकरण ही उसके लिए व्यवस्थापिका सभा और पुलिस दोनों का काम करेगा।

सत्याग्रह : सत्याग्रह के रूप में प्रत्यक्ष विरोध (Direct action) के उपयोग से साधारण गंदी राजनीति का गांधीजी द्वारा आध्यात्मिक संस्कार किया गया है। इस साधन के द्वारा मनुष्य आपसी मतभेद मिटाने के लिए अपने शत्रु को पहले समझा-बुझाकर राजी करने की कोशिश करता है और उसके असफल होने पर अपने विरोधी के आन्तरिक श्रेष्ठ गुणों की पकड़ के लिए अपने ऊपर कष्टों का स्वागत करता है।

सरकार : राजनीति का उद्देश्य जनता की सेवा करना है। राजनैतिक साधनों के द्वारा हम शासनतंत्र के ऊपर अधिकार पाते हैं और शासनतंत्रों का जनता की आवश्यकता-पूर्ति के लिए व्यवहार करते हैं। राष्ट्र के मामलों में बहुत-सी ऐसी बातें हैं, जिनके संबंध में दूर भविष्य के परिणामों का भी ख्याल करनेवाले अदूरदर्शी स्वार्थों से ऐसी नीति का विरोध पड़ता है। इसलिए ऐसे दूरदर्शी नीति के काम—कभी-कभी व्यक्ति के स्वार्थ के विपरीत होते हुए भी जिनका किया जाना राष्ट्र-हित के लिए जरूरी हो उस दल के हाथ में देना चाहिए, जिस पर यह विश्वास हो कि वे राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करेंगे।

उस दल का मनुष्य अपने पद या अधिकार से नाजायज फायदा उठाने की कोशिश नहीं करेगा। असाधारण योग्यता के व्यापारियों के द्वारा अर्जित बेहिसाब मुनाफे के अनुपात में उनको पारिश्रमिक नहीं दिया जायगा, बल्कि गाँवों में रहनेवाली सामान्य जनता की कमाई के हिसाब से उनका वेतन होगा।

कार्य-विभाग : शासन की अच्छी व्यवस्था रखना सरकार का काम तो है ही, पर जनता के उद्योग-व्यवसाय में भी प्रधान हिस्सेदार की हैसियत से भाग लेने का महत्त्वपूर्ण काम उसे करना पड़ता है। जंगल, खनिज, शक्ति-उत्पादक-साधन और यातायात का संगठन सरकार के हाथों में होता है। इसके जरिये सरकार राष्ट्र के आर्थिक जीवन को, अच्छे के लिए हो या बुरे के लिए, नियंत्रित कर सकती है।*

●

पाँच

नयी तालीम

शिक्षण का अर्थ : यदि शिक्षण देना यानी मनुष्य को जीवन के योग्य बनाना है—योग्य नागरिक, सुयोग्य पति और सुयोग्य पिता बनाना है—तो उस शिक्षण की क्रिया मनुष्य के जन्म से मृत्यु तक जारी ही रहती है। जीवन में कैसे भी उल्टे-सीधे मौके आयें, तो भी मनुष्य में न्यूनतम आघात सहते हुए समय काट लेने की क्षमता होनी चाहिए। पर यदि शिक्षण से हम किसी खास परिस्थिति से ही लोहा लेना सीखें, तो उसके अलावा किसी दूसरी परिस्थिति का सामना करते समय हम घबड़ा जायेंगे। शिक्षण यानी केवल तारीख रटकर मन को संकुचित बनाना नहीं है, बल्कि एक विशिष्ट जीवन-दृष्टि प्राप्त करना है।

* देखिये, नियोजित अर्थव्यवस्था का गांधी मार्ग, पृष्ठ ९-१०

किसी भी शिक्षण-पद्धति के पीछे उसका अपना तत्त्वज्ञान होना चाहिए और उससे मनुष्य का पूर्ण विकास होना चाहिए। इसलिए शिक्षण एक बड़ी जिम्मेदारी है और उसमें काफी खतरे हैं, इसलिए पूर्ण विचार और पूरी तैयारी किये बिना कोई भी योजना नहीं स्वीकार करनी चाहिए।

ध्येयपूर्ण शिक्षण : करीब-करीब सभी देशों की शिक्षा-पद्धति किसी खास ध्येय-पूर्ति की दृष्टि से निश्चित की जाती है। पूँजीवादी देशों में बड़े-बड़े उद्योगपति शिक्षण-पद्धति से अपने लिए आवश्यक व्यवस्थापक और कार्यकर्ता प्राप्त करने की ख्वाहिश रखते हैं। समाजवादी देशों में शिक्षण-पद्धति से भौतिक उत्पादन बढ़ाने की कोशिश की जाती है। फौजी प्रवृत्ति-वाले देशों में शिक्षण का अर्थ लोगों में संकुचित देश-प्रेम निर्माण करने का जरिया है।

पूरब की पद्धति : हमारे देश में पुरानी शिक्षण-पद्धति विद्यार्थी जीवन को जीवन-कलह में टिके रहना सिखाती थी। विद्यार्थी अपना गुरु चुन लेता था और उसीके साथ दिन-रात रहकर अपने गुरु की विद्या अपना लेता था। यह केवल आध्यात्मिक बातों के लिए नहीं, बल्कि जीवन के हर पहलू के लिए लागू था। जिस प्रकार कोई बाप अपने बच्चे की परवरिश करना अपना कोई पेशा नहीं समझता, उसी प्रकार उस समय के गुरु भी शिक्षण देना अपना कोई पेशा नहीं मानते थे।

वे तो अपना संयत जीवन-क्रम चलाते रहते और उसीसे जीवन का दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता था और विद्यार्थी जो कुछ सीखना चाहते या सीख सकते थे, वह उनके नित्य जीवन-क्रम से आप ही आप सीख लेते। जब ईसामसीह ने अपने चेले चुने, तब उन्होंने उन्हें सिर्फ यही कहा कि मेरा अनु-करण करो। उन्होंने पाठ्य-पुस्तकों की कोई सूची अपने चेलों को नहीं दी। उन्हें अपने गुरु का अनुकरण करना पड़ता था। यह है पूरब की पद्धति।

जीवन के विभिन्न पहलू : मनुष्य एक पेचीदा जीव है, उसके अलग-अलग हिस्से नहीं किये जा सकते और अलग-अलग हिस्से का अलग-अलग विकास नहीं किया जा सकता। जो शिक्षण-पद्धति केवल बौद्धिक विकास

का ही ख्याल करती है और शारीरिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास की ओर ध्यान नहीं देती, वह राक्षस पैदा करती है। यदि हमें सच्ची शिक्षा देनी है तो हमें इन सारी बातों के विकास की ओर ध्यान देना चाहिए। हमें मनुष्य का शारीरिक, सामाजिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास करना है। उसे कोई एक व्यवसाय सीखना चाहिए। समाज के एक घटक के तौर पर अपना जीवन कैसे बिताना है, इसका उसे ज्ञान होना चाहिए और प्रसंगों का ठीक-ठीक मूल्यांकन कर सकने की क्षमता उसमें आनी चाहिए। यदि ये सब बातें हम नहीं कर सकते हैं, तो हमारा शिक्षण बेकार है।

हमारी कोई भी क्रिया ऐसी नहीं है, जिसकी हम पर अमिट छाप न पड़ती हो। हमारा काम, हमारे खेल, हमारे मनोरंजन के साधन और हमारा आराम, इन सबकी खूब सोच-विचार के बाद योजना बनानी चाहिए। किसी काम की ट्रेनिंग में ही काम करनेवाले के जीवन का बहुत-सा हिस्सा व्यतीत होता है। पर हम अपना बहुत समय केवल अपने आर्थिक कार्यों, व्यवसाय में ही व्यतीत करते हैं। यदि ऐसी व्यवस्था की जाय कि चीजों का उत्पादन करते-करते हमारी शक्तियों का विकास भी होता रहे और जीवन अधिक समृद्ध बनता जाय, तो बहुत अच्छा होगा। उचित काम करते-करते उसको थकावट नहीं महसूस होगी, बल्कि वह हमारे जीवन के ध्येय को कार्यान्वित करेगा। केवल आडम्बरयुक्त पूजा सच्चा धर्म नहीं है।

हमें अपनी सारी शक्ति ग्रामों पर केन्द्रित करनी है। कुछ समय के लिए हम यदि विश्वविद्यालय का शिक्षण बन्द भी कर दें, तो उससे राष्ट्र का कोई नुकसान न होगा। आज तो हालत यह है कि हमारे पास जरूरत से ज्यादा ग्रेजुएट मौजूद हैं। इसलिए उनके कारण हमारे सामने बेकारी की समस्या आ खड़ी हुई है, क्योंकि हमें जिस किस्म की शिक्षा पाये हुए आदमी चाहिए, उस किस्म की शिक्षा उन्हें नहीं मिली है। हमारा ध्येय यह होना चाहिए कि हमारे ग्रामीण अधिक उपयुक्त और कार्यक्षम हों।... शिक्षा का कार्य ग्राम में से स्वयं विकसित होना चाहिए, वह उस पर बाहर से लादा नहीं जाना चाहिए। बाहर से यदि हम कुछ भी लादने की कोशिश

करेंगे तो उसे टिकाये रखने के लिए कुछ कृत्रिम आधार तो निर्माण करने ही पड़ेंगे। पर जो चीज आप ही आप अन्दर से पैदा होगी, उससे सच्ची संस्कृति निर्माण होगी, जिससे मनुष्य मनुष्य से और गाँव गाँव से बँध जायगा और अन्ततोगत्वा सारा देश अच्छी तरह से एकसूत्र में आबद्ध हो जायगा।

सुझायी हुई योजना : गांधीजी का सुझाव है कि शिक्षा स्वावलम्बी होनी चाहिए। उन्होंने लिखा है कि शिक्षा से मेरा मतलब है बच्चे या मनुष्य की शारीरिक, मानसिक और नैतिक उन्नति। केवल लिख-पढ़ लेना शिक्षा नहीं है और न उसका श्रीगणेश ही है। किसी भी पुरुष या स्त्री को शिक्षित बनाने का वह एक जरिया ही है। इसलिए मैं बच्चे की शिक्षा की शुरुआत उसे कोई उपयुक्त उद्योग सिखाकर करूँगा, ताकि शुरू से ही वह कोई-न-कोई नयी चीज या चीजें निर्माण कर सके। इस प्रकार सारी पाठशालाएँ स्वावलम्बी बन सकती हैं, बशर्ते कि सरकार इन पाठशालाओं की बनी चीजें खरीद ले।

मेरी ऐसी धारणा है कि इस पद्धति की शिक्षा में मन और आत्मा का अधिक-से-अधिक विकास हो सकता है। शर्त यही है कि हरएक उद्योग शास्त्रीय ढंग से सिखाया जाय, न कि यान्त्रिक ढंग से, जैसा आजकल किया जाता है। अर्थात् विद्यार्थी को हरएक चीज का कार्य-कारण-भाव समझाया जाना चाहिए। मैं यह बात कुछ निश्चयपूर्वक इसलिए कह सकता हूँ कि उसके पीछे मेरा अनुभव है। जहाँ कहीं कार्यकर्ताओं को कताई सिखायी जाती है, वहाँ यह पद्धति करीब-करीब पूर्ण रूप से अमल में लायी जा रही है। मैंने स्वयं चप्पल बनाना और सूत कातना इसी पद्धति से सिखाया है और उसका नतीजा अच्छा निकला है। इस पद्धति में इतिहास और भूगोल का बहिष्कार नहीं किया जाता, पर मेरा अपना अनुभव है कि इस किस्म का सामान्य ज्ञान मुँहजबानी ही अच्छी तरह दिया जा सकता है। इस पद्धति से जो ज्ञान होता है, वह पढ़ने और लिखने के ज्ञान से करीब-करीब दसगुना होता है। बच्चे को अक्षर-ज्ञान तभी कराया जाय, जब उसमें अच्छे-बुरे की भावना निर्माण हो। यह एक क्रान्तिकारी योजना

है। इसमें कोई शक नहीं कि इस पद्धति में मेहनत की बहुत बचत होती है।

विद्यार्थी की प्रारम्भिक शिक्षा को मैं बहुत महत्त्व देता हूँ, और मैं मानता हूँ कि वह आज के मैट्रिक के समकक्ष (अंग्रेजी छोड़कर) होनी चाहिए। आज यदि कॉलेज के विद्यार्थी अपना सारा ज्ञान भूल जायँ, तो इन कुछ लाख विद्यार्थियों की स्मृति नष्ट होने से देश का उतना नुकसान नहीं होता, जितना अपने देश की तीस करोड़ जनता (अब ५६ करोड़) के अज्ञानरूपी सागर में डूबे रहने से हुआ है और हो रहा है। करोड़ों देहातियों के अज्ञान का कोई ठिकाना नहीं है।

बच्चों की प्रारंभिक शिक्षा कभी स्वावलम्बी नहीं हो सकेगी। वे जो चीज निर्माण करेंगे, उन्हें पैसे देकर खरीद लें, तो हमारा नुकसान सरकार ने उठाया, इतना ही उसका मतलब होगा। उस हालत में शिक्षा स्वावलम्बी हुई, ऐसा मानना आत्मवंचना ही होगी। जब गांधीजी कहते हैं कि शिक्षा स्वावलम्बी होनी चाहिए, तब उसका मतलब यह हरगिज नहीं है कि हर साल की विद्यार्थी की कमाई से उसकी शिक्षा का खर्च निकल जाय। यह तो बहुत संकुचित आर्थिक विचार हुआ और वह कभी कामयाब नहीं हो सकता। उनका मतलब बहुत विशाल है। वे केवल विद्यार्थी द्वारा तैयार चीजों की रुपया-आना-पाई में ही कीमत नहीं कूतते, बल्कि उसके सुयोग्य और सुशिक्षित नागरिक बनाने की हालत में देश को जो लाभ होगा, उसको भी वे हिसाब में रखते हैं। फिलहाल देहाती स्कूल में लिखने-पढ़ने और हिसाब-किताब आदि की जो कसरत करायी जाती है, उसकी बुनियाद इतनी कमजोर होती है कि स्कूल छोड़ने के कुछ ही साल बाद वह सब ज्ञान बिलकुल साफ हो जाता है। अर्थात् उसे पढ़ाने में जो समय, मेहनत और पैसा खर्च होता है, वह बेकार-सा हो जाता है। पर यदि वही समय और पैसा उचित रीति से इस्तेमाल किया जाय तो कक्षा में जो चीजें बनेंगी, वे सम्भव है कि हर साल का अपना खर्च न निकाल सकें, पर पूरे सात साल के शिक्षा-काल में वह कक्षा जो-जो चीजें बनायेगी, उनसे उसके शिक्षकों का वेतन तो अवश्य निकलना

चाहिए। पहले दो सालों में नुकसान रहेगा, बाद के तीन सालों में सम्भव है कि बराबरी पर रहें, पर अन्त के दो 'वर्षों' में नुकसान पूरा हो जायगा। क्षणभर के लिए हम इस नुकसान की पूर्ति का विचार छोड़ भी दें, तो भी जैसा कि हम पहले भी बतला चुके हैं, एक सुयोग्य नागरिक तैयार करने में सरकार को यदि कुछ खर्च करना पड़े तो वह उसका नुकसान नहीं गिना जायगा। यदि विद्यार्थियों को रोजगार की आवश्यकताओं के उद्योग, उदाहरणार्थ : सूत-कताई, रँगाई, बुनाई, दर्जीगिरी, चटाई और टोकरी बनाना, कुम्हार का काम, मोची का काम, बढ़ईगिरी, लुहारी, ठठेरी, हाथ-कागज बनाना, गुड़ बनाना, तेल-पेराई, मधुमक्खी-पालन आदि सिखाये जायँ तो उनका उत्पादन खपाना कोई बड़ी समस्या नहीं बन जायगी। किसी कारीगर के पास काम सीखने के लिए यदि कोई उम्मीदवार रहता है, तो वह शुरू से ही अपने खर्च जितनी कमाई नहीं कर सकता। उसको सिखाने में शुरू-शुरू में कुछ-न-कुछ नुकसान ही होगा···। शिक्षक स्वयं अच्छी तरह से प्रशिक्षित होना चाहिए और उसे समुचित वेतन—मान लीजिये कि २५ रु० मासिक से शुरू किया जाय—देना होगा। उसके स्कूल की पढ़ाई के घण्टे और साल-भर का कार्यक्रम गाँव के कार्यक्रम के अनुकूल रहे।

योजना की मोटी रूपरेखा : इस बुनियादी शिक्षण-पद्धति में या जो आजकल वर्धा-शिक्षण-पद्धति के नाम से जानी जाती है, उसमें ७ साल की उम्र से १४ साल तक के लड़कों और लड़कियों को अनिवार्य रूप से पढ़ाने की कल्पना है। शिक्षा का माध्यम कोई उद्योग रहे, जिसके मार्फत सादे विषय पढ़ाये जायेंगे। बच्चे का दैनन्दिन जीवन, उद्योग से उसका संबंध, बच्चे के आसपास का प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण, इनमें से ऐसे मौके निर्माण हो सकते हैं जिनसे उसे अंग्रेजी का ज्ञान छोड़कर और सब विषयों में ज्ञान दिया जा सके। जब तक विद्यार्थी को चित्रकला का कुछ ज्ञान नहीं होता, तब तक उसे लिखना नहीं सिखाया जायगा। पढ़ना उसे पहले सिखाया जायगा। १२ साल की उम्र के बाद विद्यार्थी को धन्धे के तौर पर कोई भी उद्योग चुनने की स्वतन्त्रता दी जा सकती है। इस शिक्षा-पद्धति

का यह मकसद कदापि नहीं है, कि १४ वर्ष की उम्र के नियमित कारीगर निर्माण करें, पर उस उम्र तक उसे काफी ट्रेनिंग मिल जायगी, ताकि वह अपने धन्धे में पड़कर अपनी तमाम शक्तियों का अच्छी तरह उपयोग कर सके।

इस योजना की केन्द्रित कल्पना यही है कि विद्यार्थी का बौद्धिक विकास किसी उद्योग या धन्धे की ट्रेनिंग के मार्फत हो। मौजूदा पद्धति में प्रथम जोर सामान्य शिक्षा पर दिया जाता है और बाद में उनकी बुनियाद पर किसी धन्धे की जानकारी करायी जाती है। इसलिए जब हम बौद्धिक विकास पहले कर देते हैं तो हम एक तौर से विद्यार्थी के हाथ-पैर बाँध देते हैं और वह व्यवहार-चतुर नहीं बनता। बचपन में ही जो इन्द्रियाँ बधिर बना दी गयी हों, उन्हें बाद में लाख कोशिशें करने पर भी कार्यक्षम नहीं बनाया जा सकता। किसी प्रत्यक्ष अनुभव के सिवा दी हुई शिक्षा स्मरण-शक्ति की कसरत-सी हो जाती है। उससे विद्यार्थी का व्यक्तिगत विकास नहीं होता।

परीक्षाएँ : इस योजना में परीक्षाओं का बहुत सारा भार शिक्षकों पर होगा, विद्यार्थियों पर नहीं। चूँकि विद्यार्थी के २४ घण्टे के जीवन पर शिक्षक का नियंत्रण रहेगा, इसलिए उसका हरएक विद्यार्थी के घर से और उसके द्वारा गाँव से बहुत घनिष्ठ संबंध रहेगा। उन घरों और पूरे गाँव की हालत देखकर शिक्षक के काम का अन्दाजा लगाया जा सकेगा।

स्त्रियों का हिस्सा : बच्चों की बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति अभिप्रेत है। शुरू में बच्चा किसी भी चीज का नाप या आकार ख्याल में लेता है, फिर उसका रंग और उसकी गतियाँ ख्याल में रखता है और फिर वह चीज ऐसी क्यों है, इसको समझने की कोशिश करता है। बाद में कोशिश करके देखता है कि वह अपनी इच्छा के अनुसार कोई चीज बना सकता है या नहीं। इस प्रकार वह खेल से अन्वेषण की ओर और अन्वेषण से नव-निर्माण की ओर अग्रसर होता है। हमारी शिक्षा-पद्धति में इन तीनों परिस्थितियों का पूरा उपयोग कर लेने की गुंजाइश होनी चाहिए। तभी बच्चों की बुद्धि का पूरा विकास हो सकेगा। ऐसा कर सकने के लिए

शिक्षक में बच्चे की मनोभूमिका में समरस हो सकने की क्षमता होनी चाहिए। स्वभावतः स्त्रियों में बच्चों की पहली अवस्था से समरस होने की क्षमता अधिक रहती है। हिन्दुस्तान की स्त्रियों में शिक्षा का अभाव होने से यहाँ की शिक्षण-पद्धति का कोई कम नुकसान नहीं हुआ है। यहाँ तक कि माताएँ न तो अपने बच्चों की शिक्षा का भार उठा सकती हैं और न स्कूलों में शिक्षिका के तौर पर काम करने के लिए स्त्रियाँ ही मिलती हैं। मेरी तो ऐसी राय है कि यदि हमें स्कूलों को सुधारना है तो हमें सर्वप्रथम लड़कियों और नवयुवतियों को शिक्षित करना चाहिए, क्योंकि वे ही भावी पीढ़ियों की संरक्षिका हैं। वहाँ से यदि हम शुरुआत नहीं करते हैं तो अकेले पुरुषों द्वारा संचालित कैसी भी योजनाएँ बेकार ही साबित होंगी, क्योंकि पुरुषों का बच्चों से जो सम्पर्क होता है, वह उनकी प्रभाव पड़ने योग्य अवस्था बीतने के बाद ही होता है। आठ साल से नीचे के बच्चों का हरएक देहाती स्कूल स्त्रियों के हाथों में ही होना चाहिए। करीब-करीब ऐसा नियम ही होना चाहिए कि चन्द अपवादों को छोड़कर ऐसे स्कूलों में किसी पुरुष की नियुक्ति ही न हो।

बच्चों के विकास की दूसरी अवस्था में हमें ऐसे व्यक्ति चाहिए, जो उनकी विचार-शक्ति को प्रेरित कर सकें और किसी भी घटना का कार्य-कारण-भाव उन्हें समझा सकें। मुझे न्यूयार्क के एक लेबर यूनियन के फेडरेशन द्वारा संचालित स्कूल देखने का मौका मिला था। उस स्कूल के तमाम लोग एकत्र रहते थे और विद्यार्थी भी खुराक की चीजें प्राप्त करने और अन्य घरेलू मामलों में हाथ बँटाते थे। उनकी अपनी निजी डेयरी थी। एक शिक्षक के जिम्मे वह कर दी गयी थी और कुछ विद्यार्थी उसकी मदद के लिए दे दिये गये थे। मैंने ११ साल के बच्चों का एक आर्थिक क्लास चलता हुआ देखा। उस दिन का विषय था गाय खरीदना। १० साल का एक बच्चा क्लास ले रहा था और शिक्षक मेरे साथ एक पिछली बेंच पर बैठा था। उस बच्चे ने—उसको हम हेनरी कहेंगे—क्लास को अपने शिक्षक बिल के साथ नजदीक के बाजार में गाय खरीदने के लिए जाने पर अपने प्राप्त अनुभव सुनाये। क्लास इस किस्म से चला, "आजकल अपनी गायों

से हम लोगों को पर्याप्त दूध नहीं मिलता, इसलिए मैं और विल (शिक्षक) एक नीलामी में गाय खरीदने के लिए गये।" एक विद्यार्थी ने पूछा, "नीलाम क्या चीज है।" दूसरे ने खुलासा किया कि "नीलाम एक ऐसी दूकान है, जिसमें चीजों की कीमतें निश्चित नहीं होतीं। दूकानदार कोई एक चीज बेचने के लिए बाहर निकालता है और उस चीज की जिन्हें जरूरत होती है, उनमें से सबसे ऊँची बोली बोलनेवाले को वह बेच देता है।" इसके बाद बोली बोलने का मतलब समझाया गया। हेनरी ने बतलाया कि नीलाम शुरू होने से पहले हर भावी खरीदार ने उस गाय के संबंध का पुराना रेकार्ड देख लिया था। उसमें उसने सालभर में कितना दूध दिया, उसे कौन-सी और कितनी खुराक खिलायी गयी थी और कितना दीगर खर्च हुआ था, इसका जिक्र था। इन विद्यार्थियों ने जो यह एक घंटा आपसी चर्चा में बिताया, उससे उनका बौद्धक विकास इतना हो गया, जितना आदम स्मिथ और मार्शल के अर्थशास्त्र पर ग्रन्थ रटने से भी होना सम्भव नहीं।

मौजूदा पद्धति मौलिक विचारक निर्माण नहीं कर सकती है। हमारे विश्वविद्यालय के स्नातक भी अभी इस तीसरी दशा तक नहीं पहुँच पाये हैं। इसीलिए तो हमारी प्रगति रुकी हुई है। जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, हमें जो शिक्षा दी गयी है, वह केवल क्लर्क बनाने की दृष्टि से दी गयी है और मौलिक विचारों की क्लर्कों को कोई जरूरत नहीं। मौलिकता के लिए बहुत हद तक आत्मविश्वास चाहिए और कुछ कर दिखाने की स्फूर्ति चाहिए। शिक्षकों का कार्य सिर्फ इतना ही है कि वे नजदीक खड़े रहकर निरीक्षण करें और केवल सुझाव दें।

किसी धन्धे की ट्रेनिंग या शिक्षण-कला का धन्धे से कोई संबंध न रहे तो पूरी नहीं मानी जा सकती। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ टैगोर ने हमारी शिक्षा के इस पहलू की ओर काफी ध्यान दिया है। किसी भी ग्रामीण पाठशाला में लोक-गीत, संगीत और कला पर काफी जोर दिया जाना चाहिए। किसी उद्योग की बुनियाद पर और कला को सहायक बनाकर यदि ऐसी पाठशालाएँ चलायी जायँ, तो उनके पाठ्यक्रम कितने भी आसान क्यों न हों,

पर उनमें शिक्षा पाये हुए लोग शुद्ध नैतिक आचरणवाले और स्वाभिमानी बनेंगे। वे आरामतलबी के लिए विदेशियों के सामने पूँछ न हिलायेंगे, बल्कि सम्मान और आजादी के साथ सामान्य आदमियों की तरह रूखी-सूखी रोटी खाने में ही सन्तोष मानेंगे। जब तक जनसाधारण को इस बुनियाद पर हम खड़ा नहीं करते, तब तक नवराष्ट्र-निर्माण सम्भव नहीं है, वह कभी भी दुनिया में अग्रसर नहीं हो सकता। केवल अनुकरण करने से हम कभी बड़े नहीं बन सकते। हमें दुनिया के साहित्य, कला और संगीत-भण्डार में अपनी ऐसी कुछ देन देनी चाहिए।*

●

छह

●

धर्म

ईसामसीह का धर्म

धर्म (Religion) शब्द का व्यवहार प्रायः विभिन्न निश्चित लक्ष्यों की ओर कार्यशील अनेक सामाजिक पद्धतियों और संगठनों के अर्थ में किया जाता है।

अधिनायकीय धर्म (Authoritarian religion) : समाज के विकास की प्रारंभिक स्थितियों में भद्दे अंधविश्वासों को आदिम मानव और उसके व्यवहार को नियंत्रित करने के लिए विधि-निषेधों के साथ मिलाकर एकत्रित कर दिया गया था। मानव को उसकी दुर्बलताओं का

* देखिये, स्थायी समाज-व्यवस्था, पृष्ठ १८९–२०१।

दण्ड ऊपर की ओर से मिलता था और आज्ञा-पालनकर्ताओं के लिए इनाम भी। ऊपर का भय मानव के स्वार्थी प्रयत्नों और लालच पर रोक लगाता था और सुख की आकांक्षा उसे दूसरों के कल्याण का विचार करने को बाध्य करती थी।

उग्र धर्म (Aggresive religion) : बाद में हम कानून की राष्ट्रीय पद्धतियों को सामाजिक मान्यताओं के बीच धार्मिक रंग से रँगा हुआ पाते हैं। फौजी जन-समूहों में हम ईश्वर को वकीलों की तरह संरक्षक और सत्ता के द्वारा सही रास्ते पर कायम रखने की बात पाते हैं। जिसमें अपने अधिकारों की रक्षा की ईर्ष्या-भावना मानी जाती थी, जिसमें नास्तिक पूर्वजों की गलतियों का प्रतिशोध उनकी तीसरी-चौथी पीढ़ी तक ले लिया जाता था और जो उससे डरते थे, उन हजारों की भलाई की जाती थी। इस स्थिति में लोगों में इस बात की निश्चित इच्छा पायी जाती थी कि वे इस शक्ति के प्रति श्रद्धालु लोगों की संख्या बढ़ाने का प्रयत्न करें। ऐसे प्रयत्नों को उस शक्ति से इनाम मिलने की आशा की जाती थी।

जातीय धर्म : इनके अतिरिक्त मनुष्य द्वारा धर्म का उपयोग स्वयं के द्वारा विकसित संस्कृति को सुरक्षित रखने, आगे बढ़ाने और परिपक्व करने में भी संगठित रूप में किया जाता है।

सामाजिक धर्म (Social religion) : सभ्यता के आगे बढ़ने के साथ धर्म की भी आपसी व्यवहार की एक ऐसी आदरणीय पद्धति बन गयी है कि जिसके मान्य रिवाज और तरीके हैं। लोगों से कुछ निश्चित कर्मकाण्डों के अनुसरण करने की अपेक्षा की जाती है और इस प्रकार में वे समाज में अपना सम्मान कायम रखते हैं।

इन चार रूपों को संगठित अथवा संस्थागत धर्मों में श्रेणीबद्ध किया जा सकता है। अधिकांश प्राचीन धर्म इनमें से कुछ या सभी स्थितियों में होकर गुजरे हैं और उन पर न्यूनाधिक रूप से इनमें से हरएक स्थिति की छाप है। अभी इनमें से किसीके संबंध में भी हमारी रुचि नहीं है। पश्चिम के लोगों के ईसाई मतों में इन रूपों में से अनेक लक्षण शामिल हैं।

अधिनायकीय धर्म के रूप में ईसाई धर्म में ईश्वर को एक बड़े हिसाब-किताब रखनेवाले के रूप में चित्रित किया गया है, जो भाग्य की पुस्तक में हमारे सारे कामों का लेखा-जोखा रखता है और निष्ठुर न्याय के साथ हमारे पापों का दण्ड देता है। ईश्वर का भय ही बुद्धिमत्ता का आरम्भ कहा गया है। यदि आप भले काम करेंगे तो स्वर्ग में जायेंगे, अन्यथा आप नरक में जायेंगे।

जिस दिन से पीटर ने दुनिया के बड़े लोगों के सेवकों के साथ भाईचारा कायम करके सुख और आराम पाने की सोची और इस प्रकार ईश्वर के प्रति इनकार करने की ओर वह ले जाया गया, तभी से विभिन्न सम्प्रदायों की उग्र धर्म-संस्थाओं ने अपने आरम्भकर्ता के उदाहरण का अनुसरण किया और वे शासकों के दरबारों, प्रांगणों और दीर्घाओं के खुशामदी बन गये हैं। हम आज भी उन्हें वहीं पाते हैं। वे अपना आराम और सुख ढूँढ़ रहे हैं और ईश्वर को लगातार इनकार करने की ओर ले जा रहे हैं—न केवल मुर्गा बोलने के पहले, बल्कि सब समय। सम्प्रदायों का उपयोग राज्यों के द्वारा जनता को गिराने और दबाये रखने के लिए एक सुविधाजनक औजार के रूप में किया गया है। हमें लगता है कि इतिहास के क्रम में इसकी परिणति कटुता में होती है। हम देखते हैं कि लोगों को गुलाम रखने में जो काम रूस के धार्मिक सम्प्रदायों ने किया, उसके कारण रूस सारे आध्यात्मिक मूल्यों से दूर हो गया है। ऐसे धार्मिक सम्प्रदाय साम्राज्यवाद के आवश्यक सहायक हैं। इसमें हमें रूस तक जाने की भी जरूरत नहीं है। हमारे ही देश में तथा अन्य सब गैर-ईसाई देशों में ईसाइयों के मिशन स्वाभाविक रूप से इसी श्रेणी में आते हैं। हमें यह देखकर दुःख होता है कि ईसाई धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म के असंतुष्ट लोगों को अपने सम्प्रदाय में शामिल करने हेतु उनसे साक्षात्कार करने के लिए दौड़ते हैं। वे असभ्य को सभ्य बनाने के गीत गाते हैं, पर अन्त में वे उसके श्रम का शोषण करके और उसकी धरती छीनकर उसका खून ही पी डालते हैं।

यूरोप के अन्धकारमय युगों में हमने ईसाई धर्म को एक जातीय धर्म

के रूप में काम करते हुए देखा है और उसने अपनी शक्ति सारसायी समूहों और ईसाई दुनिया के खिलाफ धर्म-युद्ध के लिए फौजकशी में लगायी। जो अँधेरे में बैठे हैं, उन्हें प्रकाश पहुँचाने और शिक्षा देने की।कामना धर्म के ऐसे जातीय स्वरूप में से पैदा होती है, जिसमें साम्राज्यवादी सैनिक भावना भी घुल-मिल गयी हो।

ईसाई धर्म को सामाजिक धर्म के रूप में काम करने के लिए किसी साक्षी की तो आज हमें आवश्यकता ही नहीं है। अगर आप समाज को उच्चस्तर में प्रवेश दिलाना चाहते हैं तो इंग्लिश चर्च के गिरजाघर की सदस्यता बहुत मददगार होगी। यह सम्मान का चिह्न है। यहूदी वाइसराय को भी राजकीय समारोहों के अवसर पर इंग्लिश चर्च की प्रार्थनाओं में शामिल होकर अपने सम्माननीय होने का परिचय देना पड़ता था।

हम ईसाई धर्म का विचार यहाँ इस दृष्टि से नहीं करेंगे। हमारा उद्देश्य समाजशास्त्रीय अथवा राजनीतिक नहीं है। मैं इस बात से इनकार नहीं करता कि ऐसी दुनिया में, जहाँ विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के समूह रहते हैं, धर्म के इन स्वरूपों ने बहुत उपयोगी काम किया था तथा कर रहे हैं, किन्तु मैं इस बात की कोई साक्षी नहीं पाता कि ईसामसीह ने एक ऐसे धर्म की नींव डाली, जो उपर्युक्त किसी भी श्रेणी में आ जाय। यदि आधुनिक ईसाई धर्म इनमें स्थान पाता है, तो यह इस बात का सूचक है कि जिस रूप में हम इसे आज पाते हैं, उससे ईसामसीह का कोई वास्ता नहीं था। ईसा का कहना है कि मेरा सिद्धान्त मेरा नहीं है, अपितु उसका है, जिसने मुझे भेजा है। अगर वे सिद्धान्त ईश्वर के हैं तो ईसा का धर्म स्वयं ईश्वर के जितना ही व्यापक है।

धर्म के इन आरम्भिक कार्यों के संबंध में चर्चा करने में मेरा उद्देश्य यह दिखलाना है कि ईसाई धर्म में उन्हें कहने तक पूरा किया है। कुछ ऐसे सम्प्रदाय भी हैं, उदाहरणार्थ सोसाइटी ऑफ फ्रेण्ड्स तथा कुछ विशिष्ट व्यक्ति भी हैं, जो बिना कोई संगठन बनाये ईसा के सिद्धान्तों पर चलते हैं।

शुद्ध धर्म

वास्तविक अर्थ में धर्म वह सम्बन्ध है, जो ईश्वर के प्रति, अपने आदर्शों के प्रति, अपने साथी मानव के प्रति, समाज के प्रति और दुनिया के प्रति मनुष्य के व्यक्तिगत दृष्टिकोण को नियंत्रित करता है। हम इस अर्थ में ईसामसीह के धर्म के संबंध में विचार करना चाहते हैं। अर्थात् हमें ईसा के इनके प्रति व्यक्तिगत संबंधों का विचार करना है। जब ईसा इस धरती पर मौजूद थे तब : (क) उनका धर्म क्या था ? (ख) ईश्वर के प्रति उनका दृष्टिकोण क्या था ? (ग) स्वयं के संबंध में उनका दर्शन क्या था ? (घ) अपने माता-पिता और बुजुर्गों के साथ उनका संबंध कैसा था ? (च) अपने भाई-बहनों के प्रति उनका दृष्टिकोण क्या था ? (छ) समाज और राज्य के प्रति, (ज) भौतिक साधन-सामग्री के प्रति, (झ) मानवीय मूल्यों के प्रति, (ट) अन्य धर्मों के प्रति उनका दृष्टिकोण क्या था ?

ईश्वर और संसार के साथ व्यक्तिगत आत्मिक एकता के इस रूप में ईसामसीह यहूदी धर्म में जो विकास की स्थिति पाते हैं, उसे आगे बढ़ाकर उसे पूर्णता तक ले जाते हैं। यह शुद्ध धर्म है, जिसमें समाजशास्त्र और राजनैतिक मिलावट नहीं है। कुछ वर्षों पहले डॉ० जे० सी० फ़रक़ुहर ने 'हिन्दू-धर्म का मुकुट' नामक एक पुस्तक प्रकाशित की थी, जिसमें उन्होंने ईसाई धर्म को हिन्दू धर्म की अन्तिम सिद्धि के रूप में प्रतिपादित किया था। उन्होंने ईसा के शुद्ध धर्म को इसके जनक यहूदी धर्म के समाजशास्त्रीय मूल से अलग करके उसकी कलम हिन्दू-धर्म के समाजशास्त्रीय रूप पर चढ़ाने की कोशिश की। पर वे भूल गये कि सारे शुद्ध धर्म व्यक्तिगत होते हैं। सुविधा के लिए सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, पं० मदनमोहन मालवीय और गांधीजी के व्यक्तिगत धर्म को हिन्दू-धर्म में शामिल कर सकते हैं। पर वास्तव में ये तीन विभिन्न धर्म हैं, जिनकी परमात्मा के साथ प्रत्येक विभिन्न व्यक्तित्वों की अपनी छाप है। जिस तरह महासमुद्र में फेंका गया पत्थर का एक छोटा टुकड़ा विराट् जलराशि में लहरें पैदा करता है, उसी

प्रकार एक मनुष्य, चाहे वह कितना भी छोटा हो, अपनी छाप उस असीम पर लगा देता है।

जब तक हमारी मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व उसका अपना और अलग है, तब तक किसी भी दूसरे के साथ उसके निकट संबंधों पर उसके व्यक्तित्व की छाप रहेगी। लाखों-करोड़ों लोगों का अन्य सभी दूसरे लोगों से एक ही प्रकार का संबंध रहे, यह आकांक्षा व्यर्थ है। क्या किन्हीं भी दो व्यक्तियों में बिलकुल किन्हीं अन्य दो जैसी ही भिन्नता हो सकती है? प्रत्येक संबंध स्वतन्त्र ही होता है। इन सबको इस सुविधा के लिए मैत्रियाँ कह सकते हैं। पर दो व्यक्तित्वों के बीच प्रत्येक मैत्री एक विशेष प्रकार की मैत्री बन जाती है, जिसमें उस मैत्री के निर्णायक तत्त्व शामिल होते हैं। यदि आप इनमें से किसी भी एक तत्त्व को हटा दें तो वह संबंध पूर्ववत् नहीं रहेगा। इस अर्थ में धर्म-परिवर्तन हो ही नहीं सकता। यदि डॉ० राधाकृष्णन् और मैं दोनों मित्र हैं, तो हम उसी मैत्री में अन्य दूसरों को दीक्षित नहीं कर सकते। समाज में मैत्रियाँ रह सकती हैं लेकिन एक जैसी मैत्रियाँ नहीं हो सकतीं।*

●

* देखिये, क्रिश्चियनटी, इट्स इकॉनॉमी एण्ड वे ऑफ लाइफ, पृष्ठ ५३-५७।

सात

●

विश्व-शान्ति

सारी दुनिया के विचारशील लोग घटनाओं के रुख से बहुत चिंतित हैं। वे क्षितिज में बादल घिरे हुए देखते हैं। दुनिया के मामले क्या रुख लेंगे, यह अनिश्चित है और इसलिए तीसरे विश्व-युद्ध का विचार भय पैदा करता है। यह चिन्ता विभिन्न समूहों द्वारा बुलायी गयी सभाओं तथा सम्मेलनों से प्रकट होती है। मानत्रेय सम्मेलन (The Montrecex Convention) शान्ति की स्थापना विश्व-संघ-सरकार के द्वारा करना चाहता है। युद्ध-निरोधक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन (W. R. I.) अन्य रास्ते सुझाता है। अन्तर्प्रेरित विरोधी (Conscientious objectors) युद्ध से सक्रिय भाग लेने से दूर रहेंगे, जब कि अन्य दूसरे लोगों का विश्वास निःशस्त्रीकरण पर है। इस पर सब एकमत हैं कि युद्ध बर्बरतापूर्ण है और इसे सभ्य समाज में से समाप्त कर देना चाहिए।

अन्तर्प्रेरित विरोधी (Conscientious objectors)

अन्तर्प्रेरित विरोधी युद्ध की अनैतिकता के संबंध में व्यक्ति की प्रथम जागृति के सूचक हैं। उनके लिए यह व्यक्तिगत प्रश्न है। अन्तर्प्रेरित विरोधी यह देखता है कि सिपाहीगिरी हत्यारापन है। वह व्यक्तिगत रूप से हथियार काम में लेने को तैयार नहीं है। अपने इस विश्वास के लिए जो कुछ दण्ड समाज दे, उसे सहने के लिए वह तैयार है।

अन्तर्प्रेरित विरोधी इसके आगे मामले की खोज नहीं करता। वह अपनी तात्कालिक समस्या का समाधान करता है, लेकिन किस कारण से यह परिस्थिति उत्पन्न होती है, इसकी खोज नहीं करता। उसका दृष्टि-कोण दूरदर्शी नहीं है। वह लक्षण को देखता है, रोग को नहीं। वह यह नहीं समझता कि सम्भवतः उसकी दैनिक जीवन-चर्या इस परिस्थिति को पैदा करती है और अपनी जीवन-चर्या में परिवर्तन करना भी उसके लिए आवश्यक हो सकता है। वह उस व्यक्ति की तरह से है, जो पशुओं के प्रति क्रूरता रोकने का उपदेश तो करता है, लेकिन उसके मांस खाने का परि-णाम ही सूअर की हत्या का कारण होगा। वह स्वयं निर्दयतापूर्वक कत्ल करने को तैयार नहीं है, लेकिन उसकी चर्या कसाई को अस्तित्व में लाती है और उसे कायम रखती है।

इसके दो कारण हो सकते हैं। पहली बात स्पष्ट विचार-धारा का अभाव; दूसरा अपने काम में तर्कपूर्ण परिणामों का मुकाबला करने की तैयारी का अभाव। पहली स्थिति में आगे अध्ययन और विचार आवश्यक है। दूसरी परिस्थिति सामाजिक प्राणी होने के अनुपयुक्त है। यदि वह किसी समाज का जान-बूझकर इच्छापूर्वक सदस्य बना है और ऐसे सामाजिक जीवन में भाग लेता है, तब युद्ध में भाग लेने से उसका दूर रहना अपने कर्तव्य से हटना है। यदि वह युद्ध को ठीक नहीं समझता तो उसे ऐसी जीवन-चर्या अपनानी चाहिए, जिसमें युद्ध को कोई स्थान न हो। यदि वह पशुओं के प्रति क्रूरता रोकना चाहता है तो उसे सूअर का मांस खाना छोड़ देना चाहिए।

शान्तिवादी

शान्तिवादी के लिए यह केवल व्यक्तिगत प्रश्न नहीं है। उसके लिए यह समस्या सामाजिक या राष्ट्रीय आकार प्राप्त कर लेती है। वह मानव-जाति में शान्ति चाहता है। वह इस लक्ष्य को तात्कालिक कारणों पर अंकुश लगाकर प्राप्त करने का इच्छुक है। वह विवादों और दावों को शान्ति-पूर्वक हल करना चाहता है, निःशस्त्रीकरण के द्वारा या संघीय

विश्व-सरकार आदि के द्वारा। उसका विश्वास उपचारात्मक पद्धतियों में है।

वह भूल जाता है कि विवाद में भाग लेनेवाले पक्ष निर्णायक से भी बड़े हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में निर्णायक अपने निर्णय को लागू करने में समर्थ नहीं होगा, बल्कि विवाद करनेवाले पक्ष ही अपने मामलों के स्वयं ही निर्णायक बन बैठते हैं। राष्ट्रसंघ की यही कमजोरी है।

जब दो व्यक्ति लड़ने पर उतारू ही हैं तो निःशस्त्रीकरण संघर्ष को नहीं रोक सकता। आप अणुबम पर रोक लगा दीजिये, वे अन्य बड़े शस्त्रों से लड़ेंगे! आप बड़े शस्त्र हटा दीजिये, वे बन्दूकों से लड़ेंगे। बन्दूकों के अभाव में उन्हें तीर-कटार या लाठी मिल जायगी। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद जर्मनी का निःशस्त्रीकरण क्या दूसरे विश्व-युद्ध को रोक पाया?

हम आदमी के बनाये हुए कानून पर भी बहुत भरोसा नहीं कर सकते। वह इतना ही कारगर होगा, जितनी उसके पीछे शक्ति होगी। कानून के व्यावहारिक रूप से उपयोगी होने के लिए उसका कारगर तरीके से लागू किया जाना आवश्यक है। विश्व-सरकार भी हमें बहुत आगे नहीं ले जा सकती।

चिकित्सक के आदेश के अनुसार रोगी की हलचल को रोककर उसे बिस्तर पर पड़े रखकर या उसके सिर पर बरफ की थैली रखकर ज्वर को रोका जा सकता है। मुख्य बात बीमारी का निदान करने, बुखार के कारण का इलाज करने और रोगी की दिनचर्या को इस प्रकार, सावधानीपूर्वक व्यवस्थित करने की है, जिससे बुखार उसे दुबारा न हो सके।

अहिंसावादी

जिस तरह के दो समग्र महायुद्धों में से हम गुजरे हैं, उनके कारणों की हमें सावधानी से खोज करनी चाहिए। एक बार हम कारण को खोज निकालते हैं तो हममें समाज से युद्ध को समाप्त करने के लिए आवश्यक उपचार-परिणामों का वीरता से मुकाबला करने का साहस होना चाहिए।

उसके लिए हमें समाज और उसकी जीवन-चर्या का ऐसे आधार पर पुन-र्संगठन करना होगा, जिससे सामाजिक संतुलन प्राप्त करने के लिए समय-समय पर युद्धों की आवश्यकता न रहे। इसका अर्थ यह हुआ कि हमें अपने दैनिक जीवन का निर्माण अहिंसा के आधार पर करना होगा। ऐसे आधार पर निर्मित समाज सदा के लिए युद्ध का वर्जन कर सकेगा।

अगर हम अपने प्रति ईमानदार हों तो हम पायेंगे कि ये युद्ध हमारे आर्थिक जीवन के, औद्योगिक विकास के परिणाम हैं। कच्चे माल, ईंधन की खोज तथा बाजारों पर नियन्त्रण–ये ऐसे स्थान हैं, जहाँ से अन्त-र्राष्ट्रीय युद्ध उत्पन्न होते हैं। हमें अपने जीवन के तरीकों को अपनी आव-श्यकताओं की पूर्ति की हमारी क्षमता से संतुलित करना होगा। अगर इन दोनों के बीच में विषमता रहती है, तो हम अपने पड़ोसियों के साथ संघर्ष में पड़ जाते हैं। संघर्ष के स्वरूप की विशालता का कोई महत्त्व नहीं है। हमें ऐसे अवसरों को ही टालना होगा, जो होड़, लालच और ईर्ष्या को जन्म देते हैं। क्या हम अपने जीवन को इस आधार पर पुनर्गठित करने को तैयार हैं ? जीवन की अहिंसक पद्धति लोगों के बीच सद्भावना व शान्ति कायम रखने के लिए किसी भी कीमत को अत्यधिक नहीं मानेगी।

हमारा विश्लेषण हमें इस विश्वास की ओर ले जाता है कि आरंभिक आवश्यकताओं में स्वावलम्बन शान्ति की स्थापना के लिए अनिवार्यत: आवश्यक है। हमारी भावना कितनी ही तीव्र हो, जब तक हम अपनी राष्ट्रीय आर्थिक प्रवृत्तियों को उपर्युक्त आधारों पर पुनर्गठित करने के लिए तैयार न हों, तब तक हमारी भावनाएँ, चाहे वह कितनी ही तीव्र क्यों न हों, हमारी मदद नहीं कर सकती हैं। केवल लक्षणों के साथ थोड़ा-बहुत परिवर्तन तब तक कारगर नहीं होगा, जब तक उसके उत्पादक कारणों को हम स्पर्श न करें।

यूरोप युद्ध के कारण मरणान्तक रोग से पीड़ित है। पर उसके पास युद्ध को समाप्त करने के संबंध में विचार करने को समय नहीं है। यूरोप के नेता उन राष्ट्रों को, अपने राष्ट्रों को, तथाकथित सुधार-कार्यक्रमों

की ओर ऐसी तेजी से ले जा रहे हैं कि वे सीधे सर्वनाश के रास्ते की ओर बढ़ रहे हैं। गांधीजी की आवाज को छोड़कर भारत भी उन्हींका अनुसरण करता हुआ प्रतीत होता है। क्या हम समय रहते जगकर बच जायेंगे! अथवा बढ़ते हुए अग्नि-प्रलय में हम भी भस्म होकर समाप्त हो जायेंगे ?*

युद्ध का नैतिक विकल्प

सामान्यतः युद्ध विवाद निपटाने, बदला लेने, भूमि तथा अन्य प्राकृतिक साधन प्राप्त करने के लिए विजयी होने, अन्य लोगों तथा राष्ट्रों पर सत्ता स्थापित करने, विजयी राष्ट्र ऐशोआराम की जिन्दगी बिता सकें उसके लिए गुलाम प्राप्त करने, या अन्य राष्ट्रों द्वारा संग्रहीत सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए लड़े जाते रहे हैं। पिछले वर्षों में युद्ध के यंत्रीकरण के साथ-साथ युद्ध के द्वारा औद्योगिक उत्पादनों के लिए उत्तम तथा असीम बाजार प्राप्त करने का भी वह साधन हो गया है। इन कारणों से कुछ थोड़े लोग लड़ाई लड़ते रहे और झूठे प्रचार के द्वारा बहुसंख्यक वर्ग के द्वारा सहायता प्राप्त करते रहे हैं। उक्त प्रचार के दौरान वे उन्हें अल्पकालीन लाभों का लालच देते रहे हैं तथा उनके भावी कल्याण व सुरक्षा को खतरे में डालते रहे हैं। इस सबके बावजूद विलियम जेम्स जैसे दार्शनिक इस बात को स्वीकार करते थे कि युद्ध के कुछ लाभ भी हैं। अगर युद्ध के विनाशक तत्त्वों को तथा प्रबल के द्वारा निर्बल का शोषण करने की कामना को हटा दें, तो सशस्त्र सेनाओं को समाज पर परोपजीवी रहने के बजाय उसे राष्ट्र के सांस्कृतिक विकास की शक्ति के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। ऐसे दार्शनिक इस बात को मानते थे कि युद्ध से मनुष्य के अनेक गुणों के विकास का अवसर मिलता है। अतः युद्ध भी मानव-जाति के विकास में एक कर्तव्य की पूर्ति करता है। इसलिए वे युद्ध के एक नैतिक विकल्प की पद्धति और साधन खोजने में तत्पर थे।

---

* देखिये, ग्रामोद्योग पत्रिका, पृष्ठ ५८, दिसम्बर १९४७।

सैनिक शक्ति मनुष्य के कुछ उच्च गुणों को प्रस्फुटित करती थी। उदाहरण के लिए, संरक्षण की भावना, प्रत्युत्पन्नमति और रचनात्मक अभिव्यक्ति, यद्यपि उनका क्षेत्र सीमित ही था। युद्ध साहस की भावना, ओज की प्रवृत्ति, सहकारिता की भावनाओं तथा किसी ऊँचे उद्देश्य के लिए बलिदान की इच्छा को बढ़ाता है। उनका यह भी तर्क था कि सेनाओं के इस विनाशात्मक संगठन को यदि उचित मोड़ दे दिया जा सके तो उन सद्-गुणों को, जो युद्ध में प्रकट होते हैं, मानव-जाति की भलाई के लिए काम में लाया जा सकता है। इसके लिए अनेक पद्धतियाँ और साधन सुझाये गये हैं। हमारे देश में भी इस समय सरकार स्कूलों और कॉलेजों में सैनिक शिक्षा प्रारम्भ करने को उतारू है। प्रकट में जो कारण दिया जाता है, वह यह है कि सैनिक शिक्षण का नौजवानों के शारीरिक विकास के साथ-साथ उनमें अनुशासन, कार्य, स्थिति और जीवन की पद्धति लागू करने के लिए उपयोग किया जा सकता है।

व्यावहारिक रूप में गांधीजी ने रचनात्मक कार्य के रूप में प्रवृत्तियों का कार्यक्रम दिया है, जिसमें मनुष्य में छिपे हुए सद्‌गुणों के विकास को अधिकतम क्षेत्र मिलता है। यह उन सब गुणों का विकास करता है, जो सशस्त्र सेनाओं से प्राप्त हो सकता है। यही नहीं, वह उनमें वृद्धि भी करता है। बाहर से लादे गये अनुशासन के बजाय वह आत्मानुशासन और आत्मनियंत्रण विकसित करता है। एक ऊँचे उद्देश्य के प्रति समर्पण और बलिदान की भावना के साथ-साथ आवश्यक वातावरण की रचना करने की इच्छा-शक्ति भी इसमें आवश्यक होती है। रचनात्मक कार्यकर्ता बहुत मामलों में अग्रणी होता है। वह अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसके विरोध में चल रही विचारधाराओं से युक्त विरोधी दुनिया में आकर काम करता है। उसमें साहस और खोज की भावना के लिए क्षेत्र प्राप्त होता है। सारा का सारा रचनात्मक कार्यक्रम कुछ ऐसे व्यक्तियों के समूह पर आधारित होता है, जो दिन-प्रतिदिन पारस्परिक सहयोग से अपनी योज-नाओं को कार्यरूप देते हैं। इस प्रकार एक सैनिक आक्रमण से भी अधिक

रूप में रचनात्मक कार्यक्रम उन उच्च गुणों का विकास करता है। गांधीजी ने हमारे सामने अहिंसक कार्य की एक व्यवस्थित योजना रख दी है, जो मानवता को युद्ध का एक नैतिक विकल्प प्रदान करती है।*

संगठन : युद्ध के लिए या शान्ति के लिए ?

गत विनाशकारी युद्ध के पश्चात् एक पीढ़ी भी नहीं गुजर पायी है कि संसार में शान्तिप्रिय लोगों पर युद्ध के कुत्तों को फिर खुला छोड़ दिया गया है। समय-समय पर यह संकट हम पर क्यों आते हैं—बहुतों के मन में आज यह प्रश्न सर्वाधिक है। इसका उत्तर बहुत सरल है। यह सब इसलिए है, क्योंकि संसार युद्ध के लिए संगठित है, शान्ति के लिए नहीं। जब तक धरती का ढलान एक खास दिशा में रहता है, तब तक पानी उसी दिशा में बहता है। हम पानी को दूसरी दिशा में बहाना ही नहीं चाहते हैं, तब वह दूसरी दिशा में कैसे बहेगा ? अपनी इच्छाएँ कार्यरूप में बदल दें और धरती के ढलान में परिवर्तन लायें, तो पानी स्वयं ही उस इच्छित दिशा में बहने लगेगा। अगर हम शान्ति चाहते हैं तो कुल दुनिया का संगठन शान्ति के लिए करना पड़ेगा।

जो लोग हमारे आदर्शों से परिचित हैं, वे जानते हैं कि आधुनिक युद्ध व्यक्तिगत लोभ-लालच पर, प्रतिशोध के लिए नहीं लड़े जाते, बल्कि कच्चे माल, व्यापारिक माल और बाजारों को प्राप्त करने के लिए लड़े जाते हैं और उत्पादन की केन्द्रीय पद्धति के लिए यह आवश्यक है। जब तक हम उत्पादन का यह तरीका अपनाते रहेंगे, तब तक शान्तिपूर्ण परिस्थितियों के लिए हमारी इच्छा बच्चे के द्वारा चन्द्रमा प्राप्त करने की इच्छा से भी अधिक मूर्खतापूर्ण रहेगी। जिस प्रकार हमारा आज का संगठन है, जिसमें युद्ध केवल अनिवार्य ही नहीं है, वह आवश्यक है। युद्ध सभी प्रवृत्तियों के परिप्रेक्ष्य में रहता है। अगर आप रेलगाड़ी के तीसरी श्रेणी के डिब्बे की सीट को उठायें तो वहाँ आपको बन्दूकें रखने का ब्रैकेट मिलेगा।

* देखिये, ग्रामोद्योग पत्रिका, मार्च १९४९।

व्यापारिक संस्थान इस प्रकार से संगठित होते हैं कि उन्हें क्षणभर की सूचना से शस्त्र-उत्पादक कारखानों में परिवर्तित किया जा सकता है। सच तो यह है कि दुनिया सदा युद्ध करती है। सवाल सीधे, सक्रिय या परोक्ष युद्ध का है। १९१९ से लेकर १९३८ का समय परोक्ष युद्ध का समय है और सक्रिय युद्ध हमारे सामने है। कौन-सी स्थिति अच्छी है? सच तो यह है कि जब तक मनुष्यों के जीवन में भय का राज्य है, तब तक शान्ति नाम की परिस्थिति हो ही नहीं सकती।

युद्ध की घोषणा के समय ही बाजारों का शक्तिशाली नियन्त्रण स्पष्ट रूप से सामने आ गया था। अपनी सामान्य-सी आवश्यकताओं के लिए, जैसे : कास्टिक सोडा, ब्लीचिंग पाउडर आदि, जिनके उत्पादन के लिए हमारे देश में पर्याप्त मात्रा में कच्चा माल उपलब्ध है, हम विदेशों पर निर्भर हैं। युद्ध की घोषणा के तुरन्त बाद ही कीमतें आसमान को छूने लगीं। कास्टिक सोडा १०) प्रति हण्डरवेट से बढ़कर ३५) हो गया। ब्लीचिंग पाउडर ६ रु० सेर तक पहुँच गया। हम उनके बिना काम चलाने के लिए प्रयत्नशील हैं। गाँव के साबुन बनानेवाले, कागज बनानेवाले और चमड़ा तैयार करनेवाले इतनी कीमतें कैसे अदा कर सकते हैं? हमें इन आयातित वस्तुओं से मुक्त होना होगा और उन्हें स्वयं बनाना होगा। जितने हम आत्मनिर्भर होंगे, उतने ही विदेशियों को अपने माल के लिए अपना बाजार बनाने के उनके उत्तेजन को कम अवसर देंगे और हम अपने सामान का जितना अधिक उपयोग करेंगे, उतनी माल की पूर्ति के नियंत्रण की आवश्यकता भी कम हो जायगी। शान्ति के लिए संगठन का वास्तविक आधार यही है और गांधीजी का सन्देश भी यही है।

यूरोप के लोग अपनी आवश्यकताओं की अधिकता और विविधता कायम रखना चाहते हैं और उसके साथ ही वे शान्ति भी चाहते हैं। शान्ति और जीवन के उच्च स्तर का आपस में मेल नहीं है। दुनिया ने अभी तक इसे नहीं समझा है। गांधीजी की ७१वीं वर्षगाँठ के मौके पर उनको समर्पित पुस्तक के बड़े और प्रसिद्ध लेखकों ने भी इस मुद्दे को नहीं पकड़ा

है। उन सबने विवादों का समाधान करने के सत्याग्रही तरीकों को ही गांधीजी की वास्तविक देन माना है। यह देन महत्त्वपूर्ण तो है, लेकिन बहुत ही छोटी है। अगर गांधीजी के सारे जीवन का सही तरीके से अध्ययन किया जाय तो उनका संदेश इस दुनिया के लिए अपने दैनिक जीवन को शान्ति के उद्देश्य की पूर्ति के लिए संगठित करने का आह्वान है। यह तभी सम्भव है, जब हम अपनी आवश्यकता उन वस्तुओं तक सीमित कर दें, जिन्हें हम अपने देश में प्राप्त साधनों से स्वयं उत्पादित कर सकते हैं। क्या हम इस संदेश को मानने को तैयार हैं?*

●

आठ

विविध

१. गांधी-स्तूप

अपने युग में अशोक ने बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों की घोषणा करने और उल्लेखनीय घटनाओं की स्मृति कायम रखने के लिए अपने साम्राज्य के विभिन्न भागों में स्तूप स्थापित किये थे। इस उदाहरण का अनुसरण करते हुए गांधीजी के कुछ नेकनीयत प्रशंसक इसी प्रकार के स्तूप कन्याकुमारी से कश्मीर तक लगाना चाहते हैं। ऐसे स्तूपों में तीन ओर गांधीजी के लेखांश अंकित होंगे और चौथी ओर गांधीजी की आकृति। ऐसे स्तूपों की लागत का अनुमान ३० हजार रुपया प्रति स्तूप आँका गया है। इस सुझाव

* देखिये, ग्रामोद्योग पत्रिका, नवम्बर १९३९

के पीछे जो उत्साह है, उसकी हम सराहना करते हैं। किसी महान् पुरुष की स्मृति को चिरस्थायी करने की परम्परागत अभिलाषा के अनुकूल ही यह सुझाव है। एक ही बात इस योजना के अनुकूल नहीं पड़ती है और वह बात स्वयं गांधीजी हैं। अगर खर्च का सवाल छोड़ दें तो और सब दृष्टियों से इस सुझाव के पीछे जो उदात्त कामना है, उसकी प्रशंसा करनी होगी।

चाहे गांधीजी की पसन्द के तरीकों से काम के संगठन के लिए ही रुपया चाहा जाय, फिर भी हमको लगता है कि स्मारक के लिए धन एकत्र करने का विचार ही वर्तमान समय के अनुकूल नहीं है। हमारी सरकार लोकप्रिय सरकार है, इसलिए जो कुछ योजनाएँ जनता के द्वारा प्रस्तुत की जायँ, उनका कार्यान्वियन सरकार के द्वारा किया जा सकता है। निजी प्रयत्नों से रुपया एकत्र करना विशाल काम और जिम्मेदारी है, जिसकी कोई आवश्यकता नहीं लगती, क्योंकि सरकार अपनी वित्तीय माँगों से बहुत कम शक्ति लगाकर आर्थिक साधन प्रदान कर सकती है। धन एकत्रित करने में जो शक्ति लगायी जाय, उसका अधिक उपयोग रचनात्मक कार्यों में किया जा सकता है। गांधीजी के कार्यक्रम पैसे की कमी से कभी नहीं बिगड़े हैं। एक बड़ी कठिनाई सदा ही मानवीय तत्त्व की रही है। इसलिए सबसे बड़ा फण्ड, जो हमें इकट्ठा करना है, वह मानवों का फण्ड है और जब इस प्रकार का फण्ड प्राप्त हो जाय, अर्थात् जब समर्पण तथा त्याग-वृत्ति-वाले व्यक्ति-स्तूप होंगे, ऐसे स्तूप जो इस पृथ्वी पर दूर-दूर तक जायेंगे और गांधीजी की शिक्षाओं की घोषणा करेंगे, वे केवल पत्थर के रूप में स्थापित होकर कुछ वाक्य नहीं बोलते रहेंगे। इन चलते-फिरते गांधी-स्तूपों से ऐसा प्रकाश उत्पन्न होगा, जो गांधीजी के अनुकूल होगा और ऐसा प्रकाश फैलाने में वे स्तूप केवल गांधीजी की आकृति के मुकाबले में गांधीजी के अच्छे प्रतिनिधि होंगे।

इसलिए हमारा प्रयत्न सामान्य परम्परागत पद्धतियों पर नहीं चलना चाहिए, बल्कि हमें नये क्षेत्रों को खोजना चाहिए और गांधीजी के स्थायी स्मारकों के रूप में मानवीय व्यक्तित्वों को तैयार करना चाहिए।

हमारे देश में आदर्शवादिता की कमी नहीं है। जिस नौजवान ने गांधीजी पर गोली चलायी, उस गलत रास्ते पर जानेवाले नौजवान ने भी अपने तरीके पर अपना बलिदान ही किया है। उसने अपना जीवन ऐसे उद्देश्य की पूर्ति के लिए, जिसे वह उच्च मानता था, दे डाला। अगर इसी तरह हमारे हजारों नौजवान गलत मार्गदर्शन के कारण हिंसा के रास्ते पर चले गये हैं, तो अहिंसा का रास्ता न बतलाने के कारण यह गलती हुई और वह गलती हमारी है।

कुछ संस्थाओं पर केवल रोक लगा देने से काम नहीं बनेगा। यह तो देगची पर ढक्कन लगा देने जैसा ही है। किन्तु देगची में जो भाप इकट्ठी हो रही है, वह तो किसी समय उभरेगी ही। इसलिए आवश्यकता इस बात की होगी कि उस मूल्यवान् मानवीय संपत्ति को, जो व्यर्थ जा रही है, रचनात्मक मार्ग पर लगाया जाय और वह ऐसे नौजवानों के व्यक्तित्व के निर्माण के द्वारा संभव है, जिनमें वास्तविक तत्त्व तो है, किन्तु जिन्हें सही रास्ता नहीं दिखाया गया है। इसलिए गांधीजी का सही स्मारक वह होगा, जो मानवीय व्यक्तित्व की इस विराट् संभावित संपत्ति को एकत्रित कर सके और उसे ऐसे मार्ग पर ले जा सके, जिससे संसार में शान्ति और समता प्राप्त हो।

इसकी पूर्ति के लिए आर्थिक साधन, चाहे वे कितने ही उपयोगी हों, अनिवार्यतः आवश्यक नहीं हैं। आवश्यकता स्त्री-पुरुषों की एक ऐसी सेना की है, जो अहिंसा और सत्य के उन आदर्शों से, जिन्हें गांधीजी ने सिखाया और समझाया, अनुप्राणित हों और वे न केवल शब्दों द्वारा, बल्कि अपने दैनिक जीवन द्वारा इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन दुनिया में जाकर करें। हमारे दिवंगत नेता की स्मृति को चिरस्थायी करने में ये ही उपयोगी गांधी-स्तूप होंगे।*

* देखिये, ग्रामोद्योग पत्रिका, मार्च १९४८।

२. वल्लभभाई

सरदार वल्लभभाई पटेल के देहावसान से गांधीजी को नौजवानों से जोड़नेवाली मुख्य कड़ियों में से एक कड़ी टूट गयी है। यह अनुभूति शोक-जनक है कि तीन वर्ष के भीतर ही गांधीजी की भौतिक उपस्थिति के सम्पर्क जल्दी-जल्दी समाप्त हो रहे हैं। गांधीजी से जो व्यापक प्रेम का प्रकाश फैलता था, सरदार के भाषण प्रायः उसे पुनर्जीवित तथा प्रतिबिंबित करते थे।

सरदारजी की तीव्र देशभक्ति बूढ़ों और नौजवानों, सभी पर समान रूप से असर डालती थी। उनकी दृढ़ इच्छा-शक्ति और कर्तव्य के प्रति निःस्वार्थ समर्पण उनके चारों ओर के लोगों को सदा प्रेरणादायी होता था। हममें से उन लोगों को, जिन्हें भारत के महान् वीरों के इस शिरोभूषण के साथ रहने का महान् सौभाग्य प्राप्त हुआ, उनके लिए सरदार-विहीन भारत की कल्पना ही असंभव है। वे एक सच्चे मित्र और बुद्धिमान् सलाहकार तो थे ही, लेकिन वे कभी न पिघलनेवाले शत्रु भी थे, जिन्हें ब्रिटिश साम्राज्यवाद बड़ी कीमत देकर ही समझ पाया।

यद्यपि वे गांधीजी के आदेशों का वफादारी से पालन करते थे, पर अहिंसा के उस संत द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों में हार्दिक विश्वास शायद ही कभी जाहिर किया हो, तथापि यह उल्लेखनीय है कि गांधीजी ने जो रचनात्मक कार्य उन्हें सौंपा, उसकी हर तफसील की पूर्ति भक्ति और सूक्ष्म साव-धानी के साथ की। वे इस सीमा तक ऐसे कर्तव्यों को अपने काम की तरह मानकर करते थे कि बहुतों के लिए यह विश्वास करना कठिन होता था कि रचनात्मक कार्य के प्रति उनकी भक्ति गांधीजी के प्रति उनके वैयक्तिक प्रेम व वफादारी से पैदा हुई है, न कि उनकी अपनी हार्दिक श्रद्धा और विश्वास के कारण। यह एक ऐसा विरल गुण है, जो सार्वजनिक नेताओं में मुश्किल से मिलता है। सरदार में सिपाहियाना गुण प्रचुर मात्रा में थे। यह भी उसका एक उदाहरण है। ऐसे मामलों में :

उनका काम तर्क करने का नहीं था,
उनका काम तो करने और मरने का था।

इस जन्मजात योद्धा के इस आदर्श का कितने लोग अनुकरण करेंगे ?

इस वफादारी के साथ अपने साथियों के साथ भी उनकी वफादारी जुड़ी हुई थी। साथियों पर किया गया विश्वास ही उन्हें अधिक प्रयत्नशील होने के लिए प्रोत्साहित करता था। गांधी-शिविर के मेरे आरम्भिक दिनों में मेरे ग्रामीण जीवन के अध्ययन में, खासकर खेड़ा जिले के अध्ययन में, उन्होंने मुझे बहुत प्रेरणा दी थी। गांधीजी जब जेल में गये तो उन्हींके कारण 'यंग इण्डिया' के सम्पादन का भार मुझ पर लाद दिया गया। बहुत-से अवसरों पर उन्होंने मेरी इच्छा के विरुद्ध मुझ पर जिम्मेदारियाँ डाल दी थीं। हम लोग मातृभूमि की जो कुछ सेवा कर सके, उसमें उनके विश्वास और मैत्री का बहुत बड़ा हाथ था।

सरदार का देहावसान यद्यपि व्यक्तिगत हानि है, इसे राष्ट्रीय हानि नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसे लोग तो राष्ट्र में अमर रहते हैं !

महापुरुषों के जीवन हमें सदा याद दिलाते हैं,
कि हम भी अपने जीवन को उदात्त बना सकते हैं।*

३. मशीन

इसका यह अर्थ नहीं है कि मशीनों का कोई स्थान नहीं है। जहाँ एक ही नाप-तौल की चीजें बनाने तथा एक ही काम के लिए बहुत-से आदमियों को लगाने की जरूरत होती है, वहाँ बड़े पैमाने पर मशीनों का उपयोग होना निश्चित है। जहाँ निश्चित आकार-प्रकार के औजार बनाने हैं और प्रामाणिक वस्तुओं की आवश्यकता है, वहाँ इन चीजों का उत्पादन मशीनों के द्वारा होना आवश्यक है। किन्तु रोजाना के इस्तेमाल की चीजों का एक ही आकार-प्रकार होना जरूरी नहीं है। सींग का कंघा हाथ से बनाया जा सकता है, किन्तु इस प्रकार हाथ से बनाये हुए कंघे बिलकुल समान नहीं होंगे। ऐसी चीजों को प्रामाणिक बनाने का कोई लाभ नहीं। इसलिए प्लास्टिक के कंघे बनाना अनावश्यक है। इस प्रकार सामान्य उपयोग

---

* देखिये, ग्रामोद्योग पत्रिका, जनवरी १९५१।

की बहुत-सी दूसरी चीजें हैं, जिनका प्रामाणिक होना अनावश्यक है। इसके विरुद्ध सामान्य उपयोग की अधिकांश चीजें ऐसी हैं, जो व्यक्तिगत आवश्यकता और रुचि के अनुसार बनायी जानी चाहिए। ऐसे कार्यों के लिए केवल गृह-उद्योग और ग्रामोद्योग ही चल सकते हैं। किसी आदमी के पैर के लिए यदि जूते का जोड़ा बनाना है, तो उसीके पैर के नाप का जूता बनाना चाहिए, यहाँ तक कि यदि उसके पैर में कोई विकृति है तो वह भी उसीमें खप जाय। इस प्रकार एक विशेष व्यक्ति के पैर के नाप का जूता बनाना वैज्ञानिक होगा। इसमें मोची को एक विशेष आवश्यकता की पूर्ति के लिए अपनी साधन-कुशलता और सूझ-बूझ का इस्तेमाल करना पड़ेगा, जिससे उसकी कार्यकुशलता बढ़ेगी, जब कि प्रामाणिक जूते, यद्यपि उनका उत्पादन बड़े पैमाने पर होता है, उन्हें बिलकुल वैज्ञानिक नहीं कह सकते, क्योंकि वे किसी विशेष पैर का नाप लेकर नहीं बनाये जाते। इसलिए मोची की अपेक्षा बड़े पैमाने पर जूते बनाने का धन्धा अवैज्ञानिक और इसलिए प्रगति के प्रतिकूल है।*

केन्द्रित उत्पादन का भी हमें वास्तव में स्थान रखना होगा, लेकिन यह केवल जनहित के लिए होगा और उसका प्रबन्ध या तो मिलकर या सहकारिता के सिद्धान्त पर होगा। टेलीफोन, तार, सड़कें, डाक, पानी की व्यवस्था, जंगलों और खानों का प्रबन्ध—ऐसी सभी बातें स्वभावतः राज्य के हाथों में होंगी। इन सब चीजों में हम व्यक्तिगत लाभ को मौका नहीं दे सकते। माल-उत्पत्ति की समाजवादी मिल्कियत और प्रबन्ध के विरुद्ध विशेष आपत्ति यही है कि ऐसी परिस्थितियों में काम उतनी तेजी से नहीं होता। पर अगर समाज उत्पादन-केन्द्रों के आकार और कार्य-शक्ति पर उचित नियन्त्रण रखे, तो शोषण कम किया जा सकता है। जब तक मानव-स्वभाव में ही परिवर्तन नहीं होता, शोषण एकदम खतम कर देना असम्भव है। किसी-न-किसी रूप में शोषण बड़ी हद तक मौजूद है। परन्तु मानव

* देखिये, श्रम-मीमांसा, पृष्ठ २६-२७।

के विकास को ध्यान में रखकर हमारा ध्येय इसको कम-से-कम करने का होना चाहिए।··· पूंजी लगाने का काम, व्यापार और बिक्री आदि सहकारिता की व्यवस्था में भी किये जा सकते हैं और इनमें बेहद निजी सम्पत्ति का खतरा नहीं हो सकता है।[१]

४. जमीन और उसका उपयोग

हमें सबसे पहले खुराक और कपड़ों की फिक्र करनी चाहिए और उस दृष्टि से हमें खेती और ग्रामीण उद्योगों पर सारा ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। खेती की पैदावार पर दो दृष्टियों से नियन्त्रण रखना पड़ेगा : (१) स्थानीय जरूरत के मुताबिक भोजन की चीजें तथा अन्य प्राथमिक आवश्यकताओं के कच्चे माल की उपज उसी प्रदेश में करना और (२) वहाँ की उपज ऐसी बनाने की कोशिश करना, जिससे ग्रामोद्योग के लिए आवश्यक सामग्री मिल सके। फैक्टरी के लिए उत्पादन करना दूसरे नम्बर पर आना चाहिए।··· जो अतिरिक्त जमीनें हों, उनमें ऐसी पैदावार, जिनकी आसपास के प्रदेशों में जरूरत हो, की जा सकती है। फैक्टरियों के लिए की जानेवाली गन्ना, तम्बाकू, जूट आदि की पैदावार तो कम-से-कम या बिलकुल ही खतम कर देनी चाहिए।[२]

अन्न और खाद : जमीन को किस किस्म की खाद दी जाती है, इस बात पर वहाँ के लोगों का, पेड़-पौधों का और जानवरों का स्वरूप तथा उन्नति अवलम्बित है, यह बात बहुत कम लोग महसूस करते हैं। जब हम जमीन को खाद देते हैं, तब एक किस्म से उसे खुराक ही देते हैं और यह खुराक जितनी पौष्टिक होगी, जमीन से मिलनेवाली उपज भी पौष्टिक होगी। और जमीन से जो चीजें पैदा होती हैं, वे बहुधा मनुष्यों और जानवरों की खुराक होती हैं। यह चक्र यहीं खत्म नहीं होता है। जमीन मनुष्यों और जानवरों के लिए अच्छी खुराक पैदा करती है,

१. देखिये, गाँव-आन्दोलन क्यों ?, पृष्ठ १११।

२. देखिये, स्थायी समाज-व्यवस्था, पृष्ठ १४६।

वही खाकर हजम करने के बाद वह जमीन के लिए मुफीद खुराक बन जाती है। इस प्रकार परस्पर सहायता का यह चक्र जारी रहता है, जिसमें मनुष्य, जानवर और पौधे सभी का फायदा होता है।

रासायनिक खादें जमीन की खुराक नहीं होतीं। वे एक उत्तेजक तौर पर हैं, जिससे जमीन की क्षणिक उत्पादन-शक्ति बढ़ती है। पर उसकी उपज में पौष्टिकता का प्रमाण कम हो जाता है। परिणाम यह आता है कि उस उपज पर निर्वाह करनेवाले मनुष्य और जानवरों का स्वास्थ्य उत्तरोत्तर गिरता जाता है, क्योंकि वे ऐसी जमीन की खुराक खाते हैं, जिसे स्वयं ही कोई खुराक नहीं मिलती, वरन् एक उत्तेजक दिया जाता है। कई प्रयोगों से यह बात सिद्ध हो चुकी है और उनसे ये नतीजे निकाले गये हैं :

१. गोबर तथा कूड़ा-करकटवाली खाद जिन जमीनों को दी जाती थी, उन जमीनों में उपजाये हुए गेहूँ की खुराकवाले बैल यद्यपि कद में छोटे और वजन में हलके थे, तब भी वे रासायनिक खादवाली जमीन के पैदा हुए गेहूँ की खुराक खानेवाले बैलों से अधिक ताकतवर साबित हुए।

२. गोबर और कूड़ा-करकट की खाद मिलनेवाले खेतों की उपज पर पली हुई मुर्गियाँ रासायनिक खाद मिलनेवाली जमीन पर पली हुई मुर्गियों से अधिक अण्डे देती हैं। रासायनिक खाद की फसल पर पली मुर्गियों के अण्डे बड़े और भारी होते हैं सही, पर पहली के अण्डे संख्या के कारण बाजी मार ले जाते हैं। पहली किस्म के बच्चे अधिक समय तक अपने घरों के बाहर रहते थे, जिससे यह सिद्ध होता है कि दूसरों की अपेक्षा उनमें जीवन-शक्ति अधिक है। गोबर की खादवाली जमीन की फसल पर पली हुई मुर्गियों के अण्डे अधिक जीवन-शक्तिवाले साबित हुए, क्योंकि उनमें सड़ने का प्रमाण बहुत कम निकलता था और अण्डे फूटकर बच्चे निकलने का प्रमाण अधिक था।

३. गोबर की खाद की फसल पर पली हुई मुर्गियों की विष्ठा की खाद रासायनिक खाद की फसल पर पली हुई मुर्गियों से श्रेष्ठ सिद्ध हुई। इससे यही साबित हुआ कि अच्छी फसल के कारण खाद भी अच्छी बनी और अच्छी

खाद के परिणामस्वरूप फसल अच्छी आयी। इस प्रकार गोबर और कूड़ा-करकट की खाद एक ऐसा चक्र निर्माण कर देती है, जिससे एक पीढ़ी से दूसरी तक अधिकाधिक उन्नति होती चली जाय।

इन प्रयोगों के अलावा यह भी देखा गया है कि जानवरों के खाने के लिए गोबरवाली खाद की और रासायनिक खादवाली दोनों फसलों के दाने रखे जायँ तो वे स्वभावतः गोबर की खाद के खेत के दाने अधिक पसंद करते हैं।

यदि रासायनिक खादों का अवलम्ब करना ही हो तो भी वह हमारे देश में तो असम्भव ही है, क्योंकि इस विशाल देश की विभिन्न किस्मों की जमीन का विश्लेषण कर किस जमीन को कौन-सी खाद किस प्रमाण में और किस तरीके से दी जाय, यह बतलानेवाले रसायन-शास्त्री ही कितने हैं? इस खाद की तनिक भी अतिरिक्त मात्रा काफी गड़बड़ी मचा देती है। जमीन में यदि खनिज द्रव्यों की अधिकता हुई तो कैसा बुरा परिणाम निकलता है, इसके काफी प्रयोग किये गये हैं। मॅनहीम के प्रो० रास ने जो प्रयोग किये, उन पर से ऐसा मालूम हुआ कि जमीन में यदि पोटेशियम का प्रमाण बढ़ जाता है, तो थ्रांबोसिस (खून का जमकर इकट्ठा होना) रोग होता है और शरीर पर बारीक-बारीक फुन्सियाँ उठने लगती हैं। वे लिखते हैं, "पोटेशियम नाइट्रेट पर पले हुए जानवरों की हर बढ़ती हुई पीढ़ी में अधिकाधिक थ्रांबोसिस की शिकायत होने लगती है।" उन्होंने यह भी लिखा है कि इधर चन्द वर्षों से मनुष्यों में भी इस रोग का परिमाण पहले से चौगुना बढ़ गया है।

रोगों का प्रतिकार : कई प्रयोगों से यह सिद्ध हुआ है कि जिन जानवरों को गोबर आदि की खाद से पैदा हुआ चारा, खासकर उसके पत्ते, खिलाये गये, उनमें रोगों का प्रतिकार करने की अधिक क्षमता पायी गयी, बनिस्बत उन जानवरों के, जिन्हें रासायनिक खाद की फसल या उसके पत्ते खिलाये गये। इस पर से यह स्पष्ट है कि योग्य खादें केवल जमीन की किस्म ही सुधारती हैं सो बात नहीं है, उनका परिणाम मवेशियों तथा मनुष्यों

पर भी होता है। इसलिए हमें चाहिए कि आज जब हमारे देश में मिट्टी का पृथक्करण कर किस जमीन में कौन-सी, कब, कितनी रासायनिक खाद और कैसे डाली जाय, यह बतलानेवाले वैज्ञानिक मौजूद नहीं है, हम इसकी फिक्र रखें कि जो अनाज हम खायँ, वह गोबर और कूड़ा-करकट की खाद द्वारा ही उगाया गया है। खाद से केवल किसान का ही ताल्लुक रहता है, ऐसा मानना भूल है। उपभोक्ताओं को भी चाहिए कि वे इस बारे में सतर्क रहें कि कौन-सा अनाज खाया जाय, क्योंकि बुरे परिणामों का शिकार उन्हें ही अधिक होना पड़ेगा।

इस अनुभव से फायदा उठाकर कई पथ्यकर भोजन का इलाज बतानेवाले शास्त्री अपने रोगियों को गोबर की खाद से पैदा हुई फसल खाने की सिफारिश करते हैं। ऐसी फसलों को बॉयोडायनमिक कहते हैं। ऐसी खुराक का पेट पर और आँतों पर अनुकूल असर पड़ता है। एक जर्मन भोजन-शास्त्री लिखता है, "जिनको हाजमे की और कोष्ठबद्धता की शिकायत थी, उन्हें मैंने बॉयोडायनमिक खुराक खाने की सलाह दी और उनकी खुशकिस्मती से वे दूसरी कोई दवा आदि का उपयोग न करते हुए चंगे हो गये। कई रोगियों पर आजमाकर मैं इस निश्चय पर पहुँचा हूँ कि खासकर जब खुराक कच्ची खानी हो, तब बॉयोडायनमिक खुराक रासायनिक खादों से पैदा की हुई खुराक से कहीं अच्छी है।*

५. भूदान के साधन और लक्ष्य

अहिंसक व्यवस्था में हमें साधन और साध्य का स्पष्ट विचार सतर्कतापूर्वक रखना होता है। यदि साध्य पर थोड़ा भी अधिक बल दिया गया तो उसका परिणाम मोह और बाद में हिंसा होता है। भूदान-आन्दोलन सर्वोदय-व्यवस्था की स्थापना का प्रयत्न है, अतः हमें इसके अंगों पर सावधानी से विचार करना चाहिए और इसके साध्य तथा साधनों को अलग करना चाहिए और उनके प्रति हमारा दृष्टिकोण क्या रहता है, इसके प्रति हमें

---

* देखिये, हमारी खुराक की समस्या, पृष्ठ ५२-५३।

जागरूक रहना चाहिए। भूदान के साध्य व साधनों को इस प्रकार से श्रेणीबद्ध कर सकते हैं:

१. आर्थिक — साध्य : दरिद्रता-निवारण।
साधन : समुचित उत्पादन तथा भूमि का उपयोग।

२. सामाजिक—साध्य : मालकियत समाज में स्थापित करना।
साधन : पुनर्वितरण।

३. राजनैतिक—साध्य : भूमि का शान्तिपूर्ण हस्तान्तरण।
साधन : आचरण और दृष्टिकोण को समझा-बुझाकर बदलना।

लक्ष्य स्थिर करने और साधनों को शुद्ध रखने की आवश्यकता है। जब तक हम उचित साधनों को काम में लाते रहेंगे, साध्य अपने-आप सँभलते रहेंगे। अतः हम अपना ध्यान साधनों के विचार पर केन्द्रित करेंगे:

(१) दरिद्रता का निवारण जमीन का उचित उपयोग करने से ही हो सकता है। जब हम निर्यात के लिए अथवा मिलों के लिए उत्पादन करते हैं तो हम बेरोजगारी की रचना करते हैं और दरिद्रता और दुःख बढ़ाते हैं। अतः हमें अपना ध्यान आत्मनिर्भरता पर आधारित स्थानीय उपयोग के लिए उत्पादन पर केन्द्रित करना चाहिए। इस कार्यक्रम के विस्तार में किसानों और कार्यकर्ताओं को शिक्षण देने के लिए हमें कृषि-कॉलेजों और प्रदर्शन-केन्द्रों की अत्यन्त आवश्यकता है।

(२) वर्तमान में जमीन की जोतों का मुख्य लक्षण निजी मालकियत है। हमें इसे बदलना है। छोटी या बड़ी, कोई भी निजी मालकियत नहीं रहनी चाहिए। बड़े मालिक से जमीन लेना और छोटे किसानों को छोटे टुकड़ों में देना बहुत अच्छा नहीं है। जमीन जोतनेवालों को निश्चित अवधि के लिए लीज (किराये) पर दिया जाना चाहिए और वे किस प्रकार काम करते हैं, उसकी जाँच होनी चाहिए। इस कदम के लिए भी कृषि-कॉलेजों के माध्यम से कार्यकर्ताओं का शिक्षण आवश्यक है।

(३) जमीन का शान्तिपूर्ण हस्तान्तरण समझाने-बुझाने से होना चाहिए। लोगों के हृदय-परिवर्तन के लिए हमें कार्यकर्ता चाहिए। इस लक्ष्य की पूर्ति प्रशिक्षित कार्यकर्ता के साधन से हो सकती है। यह भी कृषि-कॉलेजों की स्थापना की ओर संकेत करता है।

इस संक्षिप्त विश्लेषण से यह परिणाम निकलता है कि हमें कार्यकर्ता पर ध्यान देना होगा। समय और आकार पर ध्यान केन्द्रित करने से हम हिंसा की ओर बढ़ेंगे। लक्ष्यांक हिंसक योजना के अंग होते हैं।

चूँकि कार्यकर्ता ही हमारे साधन हैं, हमारी समस्या का मूल कार्यकर्ताओं को ढूँढ़ निकालना है। हम वर्तमान संस्थाओं में प्राप्त कार्यकर्ताओं को ही इस काम में नहीं लगा सकते। इसका अर्थ हिंसा होगा।

जब गांधीजी ने सत्याग्रहियों के लिए आह्वान किया तो उन्होंने अदालतों, कॉलेजों और स्कूलों को खाली करवा दिया। वे सब उक्त सीमा से बाहर थे। बल्कि ये सर्वोदय-विरोधी भी थे और उनका कमजोर पड़ना एक तरह से आगे बढ़ना था। मैं यहाँ यह उल्लेख कर दूँ कि प्रत्येक आन्दोलन के समय मुझे गांधीजी के स्पष्ट निर्देश प्राप्त होते थे कि मुझे अपने कार्य का स्थान नहीं छोड़ना है। जान-बूझकर गिरफ्तारी मत कराओ, न कोई गैर-कानूनी काम करो। अगर तुम अपना कर्तव्य ठीक तरह निभाते हो तो सरकार तुम्हें अवश्य गिरफ्तार करेगी। मैंने न कभी कोई गैर-कानूनी काम किया, न जान-बूझकर गिरफ्तारी के लिए बढ़ा, पर फिर भी मैं सात बार जेल गया। अगर सर्वोदय-समाज-रचना के लिए हमारा जीवन समर्पित है, तो हम अपने स्थान को किसी भी परिस्थिति में नहीं छोड़ सकते। लक्ष्यांकों का स्थिर करना अति उत्साही लोगों को अनुचित कार्य करने को प्रेरित करता है। हमें इस लालच से सावधान रहना चाहिए।

सर्वोदय में कोई ऊँचा या नीचा नहीं होता। पाखाना-सफाई का काम भी यदि सच्ची सर्वोदय-भावना से किया जाय तो वह किसी अन्य काम

के समान महत्त्व का है। विचारणीय बात एक ही है, वह है—अहिंसा ! उससे अधिक आवश्यक और कुछ नहीं है ।*

६. विज्ञान का अत्याचार

विज्ञान मानवकृत नहीं है । प्रकृति कुछ अकाट्य और अटल नियमों के अनुसार निश्चित और नपे-तुले तरीकों से काम करती है । जब मनुष्य इन नियमों को समझ लेता है और उन्हें ज्ञान की एक पद्धति का रूप देता है, तो हम उसे विज्ञान कहते हैं । इसलिए इसका अर्थ यह हुआ कि कोई भी क्रिया उसी समय वैज्ञानिक कही जा सकती है, जब हर पहलू से वह प्रकृति के अनुरूप हो और जहाँ, जितना, हम प्रकृति से भटक जाते हैं, उतने ही अवैज्ञानिक हो जाते हैं । कोई आदमी, प्रकृति जिन नियमों के अनुसार काम करती है, उनका अस्पष्ट और मोटा ज्ञान प्राप्त कर ले और अपना काम चलाने के लिए उस अधूरे ज्ञान का उपयोग करे तो ऐसा करने से वह प्रकृति द्वारा नियोजित मार्ग से दूर जा पड़ेगा । इस प्रकार भटक जाना अन्त में उसके ही नाश का कारण होगा, क्योंकि वह स्वयं प्रकृति की एक रचना है । उसका यह विनाश उसके अपने हाथों से ही हो सकता है या अधूरे ज्ञान के गलत उपयोग के कारण ।

प्रगति में दोनों चीजें आ जाती हैं, सत्य और ज्ञान के नैसर्गिक स्वरूप की खोज और मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उनका उपयोग । जहाँ तक हम प्रकृति के नियमों के अनुसार चलने में असमर्थ होते हैं, वहाँ तक हम सही हिंसा और विध्वंस को जन्मदेते हैं,जो सामाजिक झगड़ों, जात-पाँत की बीमारियों और घृणा, सन्देह और भय इत्यादि समाज-विरोधी भावनाओं के प्रसार के रूप में प्रकट हो सकते हैं । इन चिह्नों से हमें पता चल जायगा कि हम वैज्ञानिक ढंग से प्रगति कर रहे हैं या नहीं । यदि हमारी कार्य-पद्धति से समाज में सद्भावना, शान्ति और सन्तोष पैदा होता है, तो भौतिक सफलता कितनी ही थोड़ी क्यों न हो, हम प्रगति के मार्ग

* देखिये, वर्कोरियस लिविंग, पृष्ठ ३०-३३ ।

पर हैं और यदि उससे असन्तोष और झगड़े पैदा होते हैं, तो भौतिक दृष्टि से हम कितने ही अधिक सम्पन्न क्यों न हों, हम पतन के रास्ते पर हैं, ऐसा समझना चाहिए ।*

७. श्रम-मीमांसा

कर्म का उद्देश्य : जिस प्रकार खुराक जिस्म को बनाती और उसे तन्दुरुस्त रखती है, उसी प्रकार कर्म का सच्चा उद्देश्य मनुष्य की उच्च प्रवृत्तियों का विकास करना है। हमारा शरीर स्नायु, हड्डियों, खून आदि से बना हुआ है, इसलिए स्नायुओं की वृद्धि के लिए हमें प्रोटीन, हड्डियों के लिए कैलशियम या चूना, खून की सफाई के लिए खनिज लवण और शक्ति और स्फूर्ति के लिए कार्बोहाइड्रेट आवश्यक है। उसी प्रकार यदि कर्म का समग्र दृष्टि से विचार किया जाय तो वह तर्क-शक्ति, कल्पना-शक्ति, साहसपूर्ण कार्य करने की रुचि, स्नायु-मंडल की व्यवस्थित क्रियाशीलता में वृद्धि करता है।

कर्म का विश्लेषण : यदि हम कर्म या काम का विश्लेषण करें तो दिखायी देगा कि वह अपने में शापरूप नहीं है। उसके दो महत्वपूर्ण अंग हैं :

(१) वृद्धि और विकास का बीज अर्थात् वह सृजन-शक्ति जिससे व्यक्तित्व का विकास और उसके सुख का निर्माण होता है और (२) कंटाल या ऊब। जिस प्रकार एक बीज में अंकुर और स्टार्च दोनों रहते हैं, अथवा अच्छे सन्तुलित आहार में जिस प्रकार रस-पदार्थ और ऊर्जा दोनों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार कर्म का लाभ लेने के लिए उसके इन दोनों अंगों का उसमें रहना आवश्यक है। कहावत है—प्रतिभा में १० प्रतिशत प्रेरणा होती है और ९० प्रतिशत श्रम। श्रम के बिना प्रेरणा प्रभावशाली नहीं हो सकती। अतएव कर्म के द्वारा विकास करने के लिए श्रम करना आवश्यक है। हमें समूचे कर्म को लेना है। उसके टुकड़े करके श्रमवाले टुकड़ों से बचने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। उस १० प्रतिशत प्रेरणा को पाने के लिए भी ९० प्रतिशत मेहनत करनी पड़ती है।···किसी भी

---

* देखिये, श्रम-मीमांसा, पृष्ठ २१-२२।

कला, विज्ञान या कारीगरी को हस्तगत करने का अन्य कोई छोटा मार्ग नहीं है। तब भी लोग हमेशा इसके सुलभ रास्तों की कोशिश करते रहे हैं और अन्त में बुरी तरह असफल हुए हैं।*

काम के प्रकार

हमारे अपने नित्यप्रति के कामों को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है :

(१) दूसरे की आज्ञा से कोई श्रम का काम करना,

(२) श्रम के लिए ही श्रम करना,

(३) आत्मनिश्चयपूर्वक उद्देश्य की पूर्ति के लिए श्रम करना।

पहले वर्ग का श्रम गुलामी है। वह मानव-जीवन की सारी सजीव शक्ति को चूस लेता है। दूसरे वर्ग का श्रम ऐसा है, जिसमें शारीरिक विकास और वृद्धि होती है अथवा आनन्द मिलता है, जैसे खेल-कूद और व्यायाम। किन्तु मनुष्य की उच्चतर प्रवृत्तियों और शक्तियों के विकास की ओर लक्ष्य रखनेवाला सच्चा कर्म तो तीसरे वर्ग में मिलता है।

गुलामी में फिर दोष क्या है ? उससे काम करने की प्रेरणा और रुचि नष्ट हो जाती है, जिसके फलस्वरूप व्यक्तित्व गिरने लगता है और मानसिक विकास का बीज निःसत्त्व हो जाता है।.....गुलामी में जो श्रम करना पड़ता है, वह कर्म नहीं, बल्कि भार होता है और इसलिए मृत्यु का स्थान ले लेता है। गुलामी में जो सबसे अधिक खटकनेवाली बात होती है, वह यह है कि मनुष्य बाहरी दबाव के कारण काम करता है, इच्छापूर्ण सहयोग या व्यक्तिगत प्रेरणा से नहीं।

दूसरे वर्ग के श्रम पर अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। किसी हद तक वह आवश्यक है। एक सुव्यवस्थित जीवन में खेल-कूद का अपना स्थान है। किन्तु यदि यही जीवन का एक मुख्य धन्धा या उद्देश्य बन जाय तो 'खेल ही खेल, काम कुछ नहीं, इससे आदमी बुद्धू बन जायगा।' प्राचीन ग्रीस और रोम में नीची जाति के लोग गुलाम थे, उनका सारा जीवन जानवरों

* देखिये, श्रम-मीमांसा, पृष्ठ १-२।

की तरह बीता। ऊँची जाति के लोगों ने खेल-कूद और मनोविनोद का रास्ता पकड़ा, उससे उनकी शारीरिक उन्नति तो हुई, किन्तु अन्त में उन्हें नैतिक और आध्यात्मिक पतन का शिकार होना पड़ा।

सन्तुलित आहार की तरह युक्त कार्य भी शरीर को शक्ति, स्वास्थ्य और विश्राम देनेवाला होता है। शरीर के व्यायाम के साथ ही इससे मानसिक विकास और सन्तोष भी मिलता है। आज सारा का सारा काम समाज के एक ही वर्ग पर, जो असहाय और लाचार है, लादकर उसके फलस्वरूप मिलनेवाले सुखोपभोग को हुजूरवर्ग के लिए सुरक्षित करके काम में जो अनुशासन निहित है, उसकी उपेक्षा करने की मनोवृत्ति हो गयी है। काम के अंगों का इस हद तक सार ही सार लेने की कोशिश की गयी है। शरीर-श्रम भी जो ये लोग करते हैं वह भी गोल्फ, टेनिस, क्रिकेट, हॉकी, फुटबाल इत्यादि खेलरूपी गोलियों की सूरत में, जो स्वाभाविकतया खर्चीली और इसलिए गरीबों की पहुँच के बाहर की हैं। ये विलास की सामग्रियाँ हैं, श्रम की उकताहट और भारीपन से परे केवल मनोविनोद के रूप में इनका श्रम होता है।

जब काम के ऐसे टुकड़े कर दिये जाते हैं, जिनमें सन्तुलन कायम रखने का साधन नहीं रहता, तो बाह्यक्रिया भारी बोझ और क्रीड़ावाला अंग एक व्यसन बन जाता है। मनुष्य के विकास और उन्नति के लिए दोनों ही समान रूप से घातक हैं। गुलाम अभाव में मर जाता है और स्वामी अधिक विलास में।

जब काम के इस तरह से टुकड़े कर दिये जाते हैं तो हमारी समस्त वृत्तियों को संतुलित पोषण नहीं मिलता, जिसका नतीजा यह होता है कि राष्ट्रों का सांस्कृतिक विकास रुक जाता है। काम का फल केवल उसकी क्रिया से प्राप्त होनेवाले स्थूल परिणाम ही नहीं हैं, कर्ता के ऊपर भी उसकी प्रतिक्रिया होती है। ···कारीगर और उपभोक्ता के इस मानसिक आदान-प्रदान के फलस्वरूप ही किसी राष्ट्र की संस्कृति पनपती है। इसलिए जब काम के अलग-अलग टुकड़े करके कारीगर और उपभोक्ता के बीच में

कभी न पाटी जा सकनेवाली खाई पैदा कर दी जाती है, तो वहाँ संस्कृति का स्थान नहीं रहता। केवल इसी प्रकार के काम में मनुष्य की प्रगति होती है। हमारे चरित्र का निर्माण जीवन के बड़े-बड़े संकल्पों से नहीं, बल्कि नित्य-प्रति के छोटे-छोटे प्रश्नों को हल करने से होता है।[1]

८. खुराक

विज्ञान से यह सिद्ध हो चुका है कि छँटा याने पालिश किया हुआ चावल स्वास्थ्य के लिए नुकसानकारक है। फिर भी सरकारी राशनिंग योजना में केवल छँटा हुआ चावल ही वितरित करने की योजना है।··· वैज्ञानिक दृष्टि से ऊसर जमीन में और जंगलों में होनेवाले ताड़ के झाड़ों से यदि हम गुड़ और शक्कर बना लें, तो आज गन्ने के काश्त की बहुत-सी जमीन अनाज की काश्त के लिए मिल सकेगी।

खाद्य-पदार्थों के विशेषज्ञ कहते हैं कि गुड़ एक अच्छी चीज है; क्योंकि उसमें खनिज, जीवन-तत्व और शक्कर, ये तीनों द्रव्य रहते हैं। शक्कर केवल शक्तिनिर्माण करती है पर वह स्वयं शरीर में घुलमिल नहीं सकती, इसलिए घुलने योग्य बनने के लिए वह अन्य पदार्थों के द्रव्य खींच लेती है। हाथ की बनी शक्कर में मिल की शक्कर से दसगुने खनिज द्रव्य रहते हैं।

हम हिन्दुस्तानियों को ऐसी कुछ सनक सवार हुई मालूम होती है कि हम प्रकृति द्वारा प्रदान की हुई पौष्टिकता को मिलों का उपयोग करके नष्ट करना चाहते हैं, हम हमेशा छँटा हुआ चावल, मिल की बनी शक्कर और हायड्रोजनेटेड तेल ही इस्तेमाल करना पसन्द करते हैं।[2]

९. वनस्पति

कुनूर के न्यूट्रिशन रिसर्च इन्स्टिट्यूट के डाइरेक्टर डाक्टर व्ही० एन० पटवर्धन ने बताया है कि अपनी शोधों के फलस्वरूप वे इस नतीजे

१. देखिये, श्रम-मीमांसा, पृष्ठ ५–९।

२. देखिये, हमारी खुराक की समस्या, पृष्ठ ३१-३२।

पर पहुँचे हैं कि वनस्पति के उपयोग से प्राणियों की प्रजनन शक्ति का ह्रास होता है।

देश के भिन्न-भिन्न भागों में सरसों, तिल, नारियल आदि भिन्न-भिन्न तेलों के खाने का रिवाज है। आयुर्वेद के सिद्धान्तों के मुताबिक सब तेल एक से पोषक नहीं होते। जैसे बादाम का तेल दिमाग के लिए बड़ा मुफीद कहा जाता है, पर मूँगफली का तेल, यद्यपि उसमें कुछ पोषकता अवश्य है, मस्तिष्क के लिए हानिकारक बताते हैं। इस पहलू से सरसों, तिल और नारियल मूँगफली से कहीं अच्छे साबित होते हैं। अधिकतर वनस्पति के कारखानों में मूँगफली और बिनौले का तेल ही काम में लाया जाता है। ये निचले दर्जे के तेल हैं और इसलिए वनस्पति काम में लानेवाले लोग अच्छे तेलों के प्रयोग से भी वंचित रह जाते हैं।

इन बातों के होते हुए हमारी समझ में नहीं आता कि वनस्पति घी, सिवाय तेलों को साबुन तथा अन्य औद्योगिक इस्तेमालों के योग्य अवस्था में लाने के, बनाया ही क्यों जाय ? सच बात तो यह है कि घानी से निकले ताजे तेल वनस्पति के मुकाबले अधिक पचनशील और शुद्ध होते हैं। सच्चे घी से उसकी बराबरी करना ही मूर्खता है।

कारखानेदारों के एक वैज्ञानिक हिमायती लिखते हैं, "वनस्पति घी की गाय के घी से तुलना की जाय तो वह बेशक हलके दर्जे की खुराक है। पर यदि उसकी तुलना उस तेल से की जाय जिससे वह बनाया जाता है, तब यह मानना ही पड़ेगा कि वनस्पति घी एक अच्छी खुराक है, क्योंकि : (१) वह अधिक स्वादिष्ट है, और (२) वह अधिक दिन तक टिक सकता है।"

सत्य को छिपाकर केवल अर्ध सत्य के भरोसे से कारखानेदार अपने मतलब का कैसा प्रचार करते हैं, इसका यह सुन्दर नमूना है। घी से तुलना करते समय वे यह मान लेते हैं कि खुराक की दृष्टि से घी श्रेष्ठ है यानी घी में अधिक पौष्टिक तत्त्व हैं, पर जब तेल से तुलना करने का मौका आता है, तब पौष्टिकता दर-किनार कर दी जाती है और वनस्पति घी की स्वादिष्टता

और उसके टिकाऊपन की महिमा गायी जाती है, पर वर्णन करते समय उसे कहा जायगा, अच्छी खुराक, ताकि पढ़नेवाला उसे पौष्टिक खुराक ही मान ले।

दूसरी बात यह है कि तुलना के लिए बिनौले का या मूँगफली का तेल लिया जाता है, न कि तिल्ली से पेरा या सरसों के आमतौर से खाये जाने-वाले तेल, और तुलना के लिए मिल का तेल लिया जाता है न कि बैलघानी का ठण्डी पद्धति से निकाला हुआ तेल। इस पर से यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के विधान करने का मतलब है लोगों में गलतफहमी पैदा करना।

कारखानेवालों ने बहुत खर्चा उठाकर बड़े पैमाने पर इश्तहार छपवाकर लोगों में भ्रम पैदा करने का प्रयत्न शुरू कर दिया है। उसमें वे वनस्पति घी की मारगेरिन से तुलना करते हैं। वास्तव में ऐसी तुलना नाजायज है। वनस्पति घी तो बिनौले के या मूँगफली के मिलों में निकाले हुए तेलों से बनाया जाता है, पर मारगेरिन ऐसे हलके हायड्रोजेनेटेड किये हुए तेलों से ही बनता हो, ऐसी कोई बात नहीं है। आमतौर से वह जानवरों की नरम चर्बी से या चर्बी और वनस्पति तेलों के मिश्रण से बनाया जाता है। चूँकि जानवरों की चर्बी से बना यह मारगेरिन यूरोप और अमेरिका में अच्छी तरह प्रचलित है और बड़े-बड़े वैज्ञानिक भी इस बारे में एक ही राय रखते हैं कि वह एक मुफीद और पौष्टिक खुराक है, इसलिए यहाँ उष्ण पद्धति से निकाले हुए वनस्पति तेलों से बना वनस्पति घी भी उतनी ही मुफीद और पौष्टिक खुराक है, यह कोई तर्कशुद्ध दलील नहीं कही जा सकती। यदि तर्कशास्त्र ताक में रखकर बातें करनी हो तो हम ऐसी भी दलील कर सकते हैं—चूँकि घी एक पौष्टिक खुराक है, इसलिए वनस्पति घी भी पौष्टिक खुराक है।

कारखानेदारों का दूसरा दावा है कि वे वनस्पति घी बनाकर देश की स्निग्ध द्रव्यों की बेहद कमी दूर कर रहे हैं। क्या उन्होंने किसी भी तरीके से स्निग्ध द्रव्यों का उत्पादन बढ़ाया है? उन्होंने तो मौजूदा अच्छी

चीज को एक बेकार और महँगी चीज में तबदील कर दिया है जो 'अधिक स्वादिष्ट और टिकाऊ है !'

इस कमी को दूर करने के दो तरीके हो सकते हैं : (१) दूध की पैदावार बढ़ाकर, और (२) ठण्ढी पद्धति से निकाले हुए तेलों की मात्रा बढ़ाकर। ऐसा करने के लिए तिलहन बाहर भेजने पर रोक लगानी पड़ेगी और अधिक तिलहन की काश्त भी करनी पड़ेगी।*

१०. राहत कार्य के लिए संगठन

सामान्यतः राहत की आवश्यकता किसी प्राकृतिक या आकस्मिक संकट के कारण उत्पन्न होती है, इसलिए सामान्यतः एक सुसंगठित संस्था के द्वारा तुरन्त कार्य आरम्भ कर देना संभव नहीं होता। सामान्य तरीका यह होता है कि कुछ मुख्य आदमी एकत्रित होकर मिल-जुलकर कार्य आरम्भ करते हैं और सामान्य अपील निकालकर रुपया इकट्ठा करते हैं। जब कोई दुर्घटना अल्पकालिक होती है, तो इस प्रकार के संगठन के अलावा और कोई स्थायी व्यवस्था की आवश्यकता नहीं होती। तत्काल कार्य आरम्भ कर दिया जाता है और वह शीघ्र ही समाप्त हो जाता है।

लेकिन जब दुर्घटना के कारण व्यापक हानि हुई हो और जिसकी पूर्ति या पुनर्निर्माण में लम्बा समय लगनेवाला हो, तो ऐसे राहत संगठन की आवश्यकता है, जिसमें कुछ स्थायित्व हो, जो सहायता एकत्रित कर सके और बुद्धिमता से उपयुक्त लोगों को, उनकी आवश्यकता के अनुसार सहायता वितरित कर सके। इस स्थिति में राहत संगठन को बिना अर्ध-औपचारिकता के १८६० के समिति-पंजीकरण कानून के अन्तर्गत पंजीकरण करा लेना चाहिए। इस कानून के अन्तर्गत कोई भी सात या सात से अधिक लोग किसी साहित्यिक, वैज्ञानिक या परोपकारी उद्देश्य से या कानून की २० वीं धारा में उल्लिखित अन्य किसी उद्देश्य से मैमोरैण्डम आफ् एसोसियेशन पर हस्ताक्षर करके और उसे कंपनियों के रजिस्ट्रार के यहाँ प्रस्तुत करके

---

* देखिये, हमारी खुराक की समस्या, पृष्ठ २८-२९।

समिति का निर्माण कर सकते हैं। जब तक संस्था का विसर्जन न हो, तब तक एक ही औपचारिकता की आवश्यकता होती है कि वार्षिक सभा के १४ दिन की अवधि में प्रतिवर्ष व्यवस्था समिति के सदस्यों की सूची रजिस्ट्रार को प्रस्तुत कर दी जाय।

पंजीकरण के लाभ इस प्रकार हैं :

१. विधान-पत्र में उल्लेखित निश्चित नियमों के साथ स्थापित्व।
२. इसके अलग अस्तित्व की कानूनी मान्यता।
३. संचालक-मण्डल में संपत्ति निहित रहती है।
४. सीमित उत्तरदायित्वयुक्त अधिकारी के नाम से मुकदमा किया जा सकता है या लड़ा जा सकता है।
५. सारे दानदाताओं की बैठक बुलाये बिना विधान में संशोधन की सुविधा।

राहत समिति के सामान्य संगठन के संबंध में सुझाव : पहली बैठक में राहत समिति अपना विधान पास करती है और अध्यक्ष चुनती है। अध्यक्ष को कार्यकारी समिति की सहायता से काम चलाने का अधिकार दे दिया जाता है। कार्यकारी समिति के सदस्यों का चुनाव अध्यक्ष कर लेता है। एक या अधिक ऑडिटरों की नियुक्ति कर दी जाती है। इसके पश्चात राहत समिति समय-समय पर मिलती रहती है।

कार्यकारी समिति : कार्यकारी समिति अध्यक्ष के द्वारा चुनी जाय। यह समिति स्वयं अपने पदाधिकारियों या जिले या शाखा के अधिकारियों का चुनाव करे। यह महीने में एक बार या स्वनिर्णीत अवधि में मिले, नीति निश्चित करे, संदेहास्पद प्रश्नों पर अपना निर्णय दे और निश्चित कार्यों की पूर्ति के लिए उपसमितियों की नियुक्ति करे। वह बैंकों तथा अन्य एजेण्टों की नियुक्ति करे, महत्त्वपूर्ण ठेके तय करे, मासिक बजट पास करे तथा विभिन्न राहत-कार्यों के लिए रकम निश्चित करे। दैनिक कार्यों की व्यवस्था विभागीय आधार पर अथवा शाखाओं द्वारा की जा सकती है। विभागीय आधार पर कार्य बहुत केन्द्रित हो

जाता है और शाखाओं के आधार पर काम किया जाय तो योग्यतावाले अधिक लोगों की जरूरत होती है। इन दोनों पद्धतियों का मिश्रण अधिक सन्तोषजनक हो सकता है। ऐसे काम, जिनमें उच्च कोटि के तकनीकी ज्ञान की जरूरत हो, जैसे–चिकित्सा संबंधी राहत, विभागीय आधार पर किये जायँ और सामान्य राहत-सहायता शाखाओं द्वारा।

प्रभारी अधिकारी : विभागों तथा शाखाओं, दोनों के अधिकारी अपने एजेण्ट नियुक्त करें और उनके नीचे राहत-केन्द्रों और इकाइयों का संगठन करें। प्रभारी अधिकारी सीधे कार्य-समिति के प्रति जिम्मेदार हों।

राहत-अधिकारी : केन्द्रों का काम चलानेवाले राहत-अधिकारी नियुक्ति करनेवाली शाखा के मातहत कार्य करें। आवश्यकता के अनुसार प्रत्येक कार्य में उनके पास सहायक एवं स्वयंसेवक हों। केन्द्र ही पीड़ितों के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आयेगा और दैनिक राहत-कार्य चलायेगा।

संगठन का इतना विस्तार सब जगह आवश्यक नहीं है। जहाँ विस्तृत क्षेत्र हो और जहाँ केन्द्रीय कार्यालय बिना श्रम के पीड़ितों के सीधे सम्पर्क में न आ सकता हो, वहाँ ऐसा किया जाय। जहाँ इतना व्यापक संगठन हो, वहाँ भी आरम्भिक प्रयत्न करना चाहिए, खास- कर जब दैनिक कार्यक्रम के अनुसार सुचारु रूप में कार्य चलने लगा हो।

कार्यकारी व्यक्ति : किस-किस योग्यतावाले लोगोंको एकत्रित किया जाय, इसके विस्तार में जाना सम्भव नहीं। यह बहुत कुछ अध्यक्ष के प्रभाव पर भी निर्भर करता है तथा विभिन्न प्रकार के राहत-कार्यों के लिए विभिन्न प्रकार की योग्यता जरूरी होती है। तात्कालिक सहायता व रोकथाम के कार्यों के लिए डाक्टरों की जरूरत होगी, नवनिर्माण के लिए इञ्जीनियर आवश्यक होंगे, तथा इसी प्रकार अन्य भी जो कार्यकर्ता उप-लब्ध होंगे, उन्हें ही विभिन्न जिम्मेदारियाँ देने का प्रयास किया जाय। अधिकारियों के चुनाव में जितनी सावधानी बरती जाय, उतनी कम है, क्योंकि इस चुनाव पर ही संगठन की सारी कार्यकुशलता निर्भर है।*

* देखिये, आर्गनाइजेशन एण्ड एकाउण्ट्स आफ रिलीफ वर्क, पृष्ठ १–३।

कुमारप्पाजी की प्रकाशित रचनाएँ

१. गाँव आंदोलन क्यों ?
२. स्थायी समाज व्यवस्था
३. गांधी अर्थ विचार
४. गांधीवादी जीवन पद्धति
५. राजस्व और हमारी दरिद्रता
६. हिन्दुस्तान और ग्रेट ब्रिटेन का आर्थिक लेन-देन
७. क्लाइव से कीन्स तक
८. रिलीफ कार्य : संगठन और हिसाव
९. ग्राम सुधार की एक योजना
१०. अहिंसक लोकतन्त्र की बुनियादी इकाई
११. मुद्रास्फीति : उसके कारण और उपाय
१२. जनवादीचीन : मैंने वहाँ जो देखा-सीखा
१३. जापान की कृषि एवं कुटीर लघु-उद्योग धन्धों की रिपोर्ट
१४. रूस और चीन की एक झाँकी
१५. यूरोप : गांधीवादी चश्मे में
१६. मातर तालुका का सर्वेक्षण
१७. मध्य प्रान्त और बरार की औद्योगिक सर्वेक्षण समिति की रिपोर्ट
१८. उत्तर पश्चिम सीमान्त प्रान्त के लिए एक आर्थिक योजना
१९. कांग्रेस कृषि सुधार कमेटी रिपोर्ट
२०. ईसा के उपदेश और उनका व्यवहार
२१. ईसा का धर्म, उनका अर्थशास्त्र और उनका जीवन-दर्शन
२२. श्रम मीमांसा और अन्य प्रबन्ध
२३. गांधीवादी अर्थ व्यवस्था और अन्य प्रबन्ध
२४. विज्ञान और तरक्की
२५. शान्ति और समृद्धि
२६. जनता की आजादी
२७. खून से सना पैसा
२८. मौजूदा आर्थिक परिस्थिति
२९. हमारी खुराक की समस्या
३०. अहिंसक अर्थ-व्यवस्था और विश्व-शान्ति
३१. सर्वोदय और विश्व-शान्ति
३२. युद्ध का बहिष्कार
३३. जनता द्वारा जनता के लिए नियोजन
३४. स्त्रियाँ और ग्रामोद्योग
३५. हमारी अर्थ व्यवस्था में गाय
३६. सीखचों के भीतर
३७. शान्ति का अर्थशास्त्र और उसका प्रणेता

पठनीय जीवनी-संस्मरण साहित्य

आत्मकथा (संक्षिप्त)	गांधीजी	१.००
बापू-कथा	हरिभाऊ उपाध्याय	३.००
ऋषि विनोबा	श्रीमन्नारायण	७.००
विनोबा और सर्वोदय क्रांति	काका साहब	५.००
गांधीजी और राष्ट्रीय प्रवृत्तियाँ	शंकरलाल बैंकर	१०.००
बाबा विनोबा	श्रीकृष्णदत्त भट्ट	२.००
नक्षत्रों की छाया में	"	१.५०
किशोरलालभाई की जीवन-साधना	नरहरिभाई परीख	२.००
गुजरात के महाराज	बबलभाई महेता	२.००
मेरा बचपन : विनोबा के सहवास में	बालकोबा	०.५०
मेरा निर्माण और विकास	नानाभाई भट्ट	२.२५
गांधी : जैसा देखा समझा	विनोबा	३.००
बापू के चरणों में		१.२५
बापू की गोद में	नारायणभाई	२.५०
बापू की मीठी-मीठी बातें (१-२)	सानेगुरुजी (प्रत्येक)	१.५०
युग-पुरुष गांधी	रामनारायण उपाध्याय	१.५०
माता कस्तूरबा	बाबूराव जोशी	१.२५
अहिंसा का एकाकी पथिक	सोमेश्वर पुरोहित	२.००
अकाल-पुरुष गांधी	जैनेन्द्र कुमार	५.००
तूफान-यात्रा (विनोबा-यात्रा डायरी)	सुरेश राम	३.००
क्रान्ति : प्रयोग और चिन्तन	धीरेनभाई	६.००
आजादी की मंजिलें	मार्टिन लूथर किंग	४.००
जहाँ चीनी सेना ने कब्जा किया था	कुसुम नारगोलकर	२.५०